जल्दी मरने की उतावली न करें

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

२०१० मूल्य : १२.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

२०१०

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

तनाव हर स्थिति में हानिकारक

यह तथ्य न केवल सर्वविदित है वरन् प्रत्येक का अनुभव भी है कि आज का जीवन व्यस्त और तनावपूर्ण है । आजकल सभी लोग तनावपूर्ण जीवन के शिकार हैं । युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, व्यवसायी और नौकर पेशा, गरीब और अमीर हर वर्ग तथा हर स्तर का व्यक्ति तनावग्रस्त है । सड़कों पर भागती हुई जिंदगी, आपस में बात करने और मिलने जुलने के लिए समस्या, जरा सी बात पर दांत पीसना और बाहें चढ़ाना, व्यापारियों का चीख चिल्लाकर बात करना, गृहिणियों की बच्चों पर डांट फटकार आदि सभी इस बात के प्रतीक हैं कि चारों ओर मानसिक तनाव व्याप्त है । यों तनाव से सामान्य अर्थ मानसिक तनाव ही लिया जाता है, पर वस्तुतः तनाव तीन प्रकार के होते हैं, शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तनाव । इन्हें आधिदैविक और आध्यात्मिक ताप भी कहा जा सकता है । दैविक और भौतिक चिंताओं, तापों के रूप में भी इन्हीं की चर्चा की जाती है ।

लंबे समय तक लगातार एक ही प्रकार का काम करने और अत्यधिक श्रम करने के कारण जो थकान उत्पन्न होती है, उसे शारीरिक तनाव कहा जा सकता है । थक जाने या बहुत अधिक श्रम करने के बाद मनुष्य किस कदर लस्त–पस्त हो जाता है कि उसकी और कुछ करने की बात तो दूर रही, कुछ कहने या सुनने की इच्छा भी नहीं होती । यहाँ आवश्यक नहीं है कि बहुत अधिक सोने, दिन चढ़े तक पड़े रहने, ज्यादा खाने, आवश्यकता से अधिक आराम करने के कारण भी मस्कुलरटेन्शन उत्पन्न होता है । आहार–विहार की गड़बड़ी और अस्त–व्यस्तता भी शारीरिक तनाव उत्पन्न करती है ।

जहाँ तक अधिक श्रम के कारण उत्पन्न हुई थकान से पैदा होने वाले शारीरिक तनाव का प्रश्न है वह मुख्यतः दो कारणों से उत्पन्न

होता है । एक तो अनिच्छापूर्वक कार्य करना और दूसरे ''मैं काम कर रहा हूँ''–यह भावना काम करते समय विद्यमान रहना । श्रम की यह भावना कि मैंने काम किया यदि मनुष्य किसी प्रकार भूल जाए तो तीन चार घंटे का विश्राम कर और एक दो बार भोजन कर आसानी से सोलह घंटे तक काम कर सकता है ।

शारीरिक तनाव के बाद मानसिक तनाव का क्रम आता है । यह बहुत अधिक सोचने विचारने या चिंता करने से उत्पन्न होता है । सोचना केवल उसी दिशा और उसी विषय में चाहिए जिसमें कि सोच विचार आवश्यक हो, परंतु अधिकांश व्यक्ति काम की बातें बहुत कम और व्यर्थ की, बेकार या ऊल–जलूल की बातें ज्यादा सोचते हैं जिनसे वर्तमान जीवन का कोई संबंध नहीं होता । पिछली बातें या घटनाएं जिनको अनहुआ करना किसी भी प्रकार संभव नहीं है । अधिकांश व्यक्ति उन्हीं की स्मृतियों में डूबते उतरते रहते हैं । सोच–सोचकर परेशान होते रहते हैं । किसी से लड़ाई हो गई, किसी ने गाली दे दी या अपमान कर दिया अथवा कोई दुर्घटना हो गई तो उतने मात्र से लंबे समय तक मानसिक संतुलन अस्त–व्यस्त हो गया । इस तरह के मानसिक तनाव का पहला परिणाम नींद कम हो जाने के रूप में होता है ।

स्वास्थ्य के लिए अच्छी, पूरी और प्रगाढ़ निद्रा आवश्यक है । यह तो सभी जानते हैं । कोई व्यक्ति एक हफ्ते तक बिना कुछ खाए रह सकता है, पर एक सप्ताह तक नींद के बिना रह पाना संभव नहीं है क्योंकि नींद शरीर और दिमाग की क्षति पूरी करती है तथा मन मस्तिष्क और शरीर को विश्राम पहुँचाती है । जब मानसिक तनाव के कारण नींद में अवरोध उत्पन्न होते हैं तो उसका शरीर और स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है । पहले तो चिड़चिड़ापन, थकान, अरुचि और ऊब उत्पन्न होती है । इसके बाद और कई तरह की मानसिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं ।

अत्यधिक सोचकर विचार और चिंता करने से उत्पन्न होने वाला

मानसिक तनाव यदि लंबे समय तक बना रहे तो ''मेंटल रिटार्डेशन'' नामक स्थिति आ जाती है । इस स्थिति में आने पर मस्तिष्क की शक्तियां काम करना बंद सा कर देती हैं और मस्तिष्क लगभग सुन्न सा हो जाता है । आधुनिक जीवन की यांत्रिक सभ्यता के कारण उत्पन्न होने वाले मानसिक तनाव के परिणामस्वरूप ''मेंटल रिटार्डेशन'' के लाखों मामले प्रकाश में आ रहे हैं । दुःस्थिति तो मानसिक तनाव सह पाने की क्षमता सीमा टूट जाने के बाद उत्पन्न होती है । प्रथम तो इनके लगातार बने रहने के कारण अवसाद ग्रस्त स्थिति बन जाती है, जिसे डिप्रेशन भी कहा जाता है ।

इस प्रकार का तनाव बढ़ जाने पर शिराएँ फटने सी लगती हैं, आँखें कमजोर हो जाती हैं । कब्ज रहती है, खाना हजम नहीं होता । नशा पीने की इच्छा होती है और यदि शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार के तनाव एक साथ उत्पन्न हो गए तो काम और क्रोध के आवेग भी बार बार पैदा होने लगते हैं । शारीरिक व मानसिक तनाव के बाद आता है भावनात्मक तनाव । मनुष्य को अपने जीवन में कई तरह के उतार–चढ़ावों का सामना करना पड़ता है । वह निरंतर भावनाओं के थपेड़े खाता रहता है ।

प्रायः भावनाएँ यथार्थ पर निर्धारित नहीं होतीं, किंतु अत्यधिक आसक्ति के कारण मनुष्य उन्हीं से चिपके रहते हैं । किसी का प्रिय मित्र, पुत्र, पति या पत्नी अथवा रिश्तेदार कल आने वाला है तो उसे रात भर नींद नहीं आती । एक घंटे बाद परीक्षाफल घोषित होने वाला है तो दिल की धड़कन बहुत बढ़ गई । दूर कहीं प्रवास पर हैं रात में सहसा किसी की याद आ गई तो नींद गायब, यही है–भावनात्मक तनाव । ये भावनात्मक तनाव प्रायः हमारे जाने–अनजाने व्यवहारों में प्रकट होते हैं । कुछ लोग कंधे उचकाते रहते हैं, कुछ पैर हिलाते रहते हैं । कुछ गुनगुनाते रहते हैं, कुछ सीटी बजाते हैं । कोई बार बार पलकें झपकाते रहते हैं तो किसी के नाक से खूं खूं की आवाज आती रहती है । ये सब भावनात्मक तनाव के ही परिणाम हैं ।

इन तनावों की तत्काल प्रतिक्रिया परिणति किसी न किसी रूप में तो देखने को मिलती ही है । इनके दूरगामी प्रभाव भी होते हैं और शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य पर इनकी तीखी प्रतिक्रिया होती है, जिनसे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं । मानसिक तनाव के कारण सिर दर्द रहना तो साधारण सी बात है । कई बार पेट के फोड़े (अल्सर) उच्च रक्तचाप, हृदय रोग तथा अन्य कई बीमारियां उत्पन्न होती हैं । समय पर तनावों का यदि नियंत्रण समाधान नहीं किया गया तो हाइपरटैंशन, हार्ट अटैक या पैरालिसिस जैसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं और जीवन अस्तित्व को ही संकट ग्रस्त कर देते हैं ।

इस प्रकार के रोग किसी भी तरह के तनावों के कारण उत्पन्न हो सकते हैं । कभी मास्कुलरटैंशन से, कभी मेंटल टेंशन से, कभी तीनों के सम्मिश्रित कारणों से इस प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं । उदाहरण के लिए थके हुए व्यक्ति को बहुत जल्दी क्रोध आता है । क्रोध आने के अलावा जल्दी थक जाने वाले व्यक्ति चिंतित भी रहने लगते हैं । दिमागी उलझन में फँसे व्यक्ति को सिर दर्द, हृदय की पीड़ा, अम्लता, कब्ज आदि रोग तंग करते रहते हैं । जब व्यक्ति अपने को उपेक्षित समझता है और उसकी भावनाएँ अतृप्त रही आती हैं, तो उसे दमा, यक्ष्मा, आर्थराईटिस, कुष्ठ रोग आदि रोग उत्पन्न होने लगते हैं ।

कहने का आशय यह है कि तनाव किसी भी क्षेत्र में संव्याप्त क्यों न हो उससे जीवनी शक्ति का क्षरण होता है । शारीरिक और मानसिक श्रमवर्धक आहार उपचार लेने से इसकी क्षतिपूर्ति थोड़े ही समय में हो जाती है, किंतु मानसिक या भावनात्मक तनाव ऐसे होते हैं जिनके मूल में गहरे आघात विद्यमान रहते हैं । आघातों से उत्पन्न हुए ये घाव नासूर बन जाते हैं और समय समय पर उभरते फूटते रहते हैं । यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि शारीरिक स्वास्थ्य को नष्ट करने में केवल आहार विहार की अनियमितता ही कारण नहीं है । मानसिक शांति को नष्ट करने में केवल प्रतिकूल परिस्थितियाँ ही

निमित्त नहीं होतीं वरन् उनका कारण मनुष्य की भावनात्मक दुर्बलता और मानसिक संतुलन का अभाव भी है क्योंकि बड़े बड़े संकट सामने होने पर भी कितने ही मनस्वी लोग उन्हें सामाजिक चुनौती मात्र मानते हैं और उनका मुकाबला खेल के मैदान में गेंद से जूझने वाले खिलाड़ियों की तरह करते हैं । इसके विपरीत कितने ही व्यक्ति विपत्ति की कल्पना मात्र से घबड़ा उठते हैं और इतने अंसतुलित हो जाते हैं मानो आपत्तियों का पर्वत ही उन पर टूट पड़ा हो ।

जो भी हो, तनाव के कारण उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों को जितना विघातक माना जाए उतना कम है । इनके कारण उस जीवनी शक्ति का बुरी तरह अपव्यय होता है, जिस पर स्वास्थ्य, संतुलन, शांति और आनंद निर्भर रहते हैं । दीपक का यदि तेल समाप्त हो जाए तो वह मात्र रुई बत्ती आदि के सहारे ही ज्वलंत नहीं रखा जा सकता । जीवनी शक्ति को मानवीय सत्ता का तेल भंडार कहा जा सकता है । तनाव का सीधा आक्रमण उसी पर होता है और जितनी तेजी से उस भंडार का क्षय होता जाता है उतनी ही तेजी से सोचने समझने की क्षमता और व्यवस्थापूर्वक कुछ करने की दोनों संभावनाएँ ही अस्त–व्यस्त होती चली जाती हैं । इस स्थिति में फँसकर व्यक्ति खोखला बनकर रह जाता है । उसके शरीर की बनावट भले ही न बदले पर स्थिति अर्ध विक्षिप्त जैसी बन जाती है । ऐसे व्यक्ति न केवल स्वयं संतप्त रहते हैं वरन् संपर्क में आने वालों को भी अपने व्यवहार से उद्विग्न करते हैं ।

तनाव के कारण मनःस्थिति दिनों दिन दुर्बल होती चली जाती है, उसके साथ ही दुर्बल मनःस्थिति के व्यक्ति को छोटे–छोटे कारणों से भी भयंकर तनाव उत्पन्न हो सकता है । अतः तनाव से छुटकारे की युक्ति सभी व्यक्तियों को आनी चाहिए । प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न होने पर विचार करना चाहिए कि उसकी चिंता पर असंतुलित होने के स्थान पर उतार चढ़ाव को स्वाभाविक मानते हुए संतुलन बनाए रखने की दूरदर्शिता अपनानी चाहिए तथा प्रस्तुत प्रतिकूलताओं के

साथ खिलाड़ी की भावना से आँख मिचौली खेलने की दृष्टि रखनी चाहिए । इस तरह का साहस, ऐसा दृष्टिकोण रखा जाए तो फिर कोई भी कठिनाई ऐसी नहीं रह जाती जिसका प्रयत्नपूर्वक हल अथवा धैर्यपूर्वक समाधान न किया जा सके ।

सर्वप्रथम तो उन स्थितियों को समझने और उनके कारणों को पहिचानने की चेष्टा की जानी चाहिए जिनसे तनाव या चिंताएँ उत्पन्न होती है । चाहे परिवार में असामंजस्य के कारण उत्पन्न होने वाला तनाव हो या आर्थिक कठिनाइयों से पैदा हुई चिंता हो । कई बार बहुत सी समस्याएँ व्यक्ति को परेशान किए रहती हैं । उन सबको एक साथ सोचने का अर्थ है सब शत्रुओं को एक साथ लड़ने के लिए चुनौती देना । सब समस्या पर एक साथ विचार करने के कारण किसी भी समस्या का समाधान नहीं हो पाता और परेशानियाँ अपने स्थान पर खड़ी रहती हैं । इस स्थिति से निबटने के लिए कारगर उपाय यह है कि एक-एक समस्या को क्रमवार सुलझाया निबटाया जाए ।

समस्याओं के समाधान में संतुलित और सुलझी हुई नीति अपनाने के साथ यह भी आवश्यक है कि सुखद संभावनाओं की आशा लगाने की तरह दुखद दुर्घटनाओं एवं प्रतिकूल परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना चाहिए । उस तरह सजग रहने पर ढेरों कठिनाइयों से बचा जा सकता है । कम से कम तनाव के बोझ को तो हल्का किया ही जा सकता है । श्रम, संतुलन और आहार-विहार की सुव्यवस्था बनाए रहकर शारीरिक तनाव से बचा जा सकता है । मानसिक श्रम अदलते बदलते रहकर और किए जा रहे कार्यों में दिलचस्पी रखते हुए, उन्हें सुव्यवस्थित बनाने का फला-कौशल प्रस्तुत करने की रीति-नीति अपनाकर मानसिक तनाव से बचा जा सकता है ?

शारीरिक गतिविधियाँ मनोवेगों द्वारा संचालित

मनुष्य शरीर की सारी गतिविधियों और क्रियाकलापों का संचालन, मस्तिष्क द्वारा होता है । वैज्ञानिकों के अनुसार कोई भी इच्छा, आकांक्षा, विचार, भावना और संकल्प मस्तिष्क से ही उठते हैं तथा उन्हें पूरा करने की योजना बनाने का कार्य भी उसी के जिम्मे आता है । मस्तिष्क शरीर का प्रशासक, नियंता, संचालक और निर्देशक है तो स्वाभाविक ही है कि उसकी स्थिति, दशा का प्रभाव शरीर पर भी पड़े । प्रशासक यदि अयोग्य और अकुशल होगा तो व्यवस्था भी गड़बड़ाएगी । संचालक के हाथों हुई किसी भी गल्ती का प्रभाव उसके अधीन क्षेत्र पर पड़ता है । आधुनिक मनोविज्ञान इस दशा में कई महत्वपूर्ण खोजें कर चुका है और इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका है, जिनका प्रतिपादन प्राचीनकाल में महर्षियों ने किया था ।

मनोभावों का स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इस दशा में कई प्रयोग हुए हैं । पिछले दिनों अमेरिका के न्यूयार्क शहर में रहने वाला एक युवक एलेक्सी सेन्ट मार्टिन अपने एक मित्र द्वारा असावधानी से चल गई बन्दूक के कारण घायल हो गया । गोली पेट में लगी थी और पेट में दो इंच व्यास का छेद हो गया था । लगता था कि बचना मुश्किल है, फिर भी डा० विलियम बोमोर्ट के प्रयासों से मार्टिन की प्राण रक्षा तो हो गई पर पेट के भीतर वह सूराख बना रहा । उसके पेट की बाहरी और आंतरिक त्वचा तो जुड़ गई, पर पेट के भीतरी अंगों में ऐसा विकार आ गया, जिससे कि उसका खाया हुआ भोजन साफ दिखाई देता था ।

डा० बोमोर्ट ने मार्टिन की पर्याप्त सहायता और देखभाल की, उसे अपने साथ भी रखा ताकि वह भोजन की पाचन प्रक्रिया का उसके पेट में देखकर अध्ययन कर सके । डा० बोमोर्ट ने मार्टिन पर

कुल मिलाकर २९३ प्रयोगात्मक अध्ययन किए और उन प्रयोगों द्वारा प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर एक पुस्तक लिखी । इस पुस्तक में बताया गया है कि पेट के सब से अंदर की पर्त लाल, गुलाबी, मलमल सी दीखती है और वह श्लेष्मा से ढकी रहती है । ज्यों ही मुँह में भोजन रखा जाता है यह पर्त और भी अधिक सुर्ख गुलाबी रंग की हो जाती है और श्लेष्मा से एक तरल पदार्थ स्त्रावित होने लगता है जो आमाशय में जमा हो जाता है । भोजन जब आमाशय में पहुँचता है तो श्लेष्मा और सिकुड़ने लगती हैं फलतः वहाँ अधिक तरल पदार्थ जमा होने लगता है ।

यह तरल पदार्थ भोजन को अपने में लिपटा कर उसे गलाने लगता है । एक प्रयोग के दौरान मार्टिन को गुस्सा दिलाया गया । गुस्से की हालत में ही मार्टिन ने भोजन किया । इधर डा० बोमोर्ट परीक्षण करते रहे । उन्होंने देखा कि प्रयोग दौरान के रोगी मार्टिन को गुस्सा आने पर भोजन पचाने में अधिक समय लगा । डा० बोमोर्ट के इन निष्कर्षों की पुष्टि अन्य वैज्ञानिकों ने भी की है और बताया है कि उत्तेजित मनःस्थिति में किया गया भोजन स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालता है । खासतौर से पाचन संस्थान पर तो उसकी तुरंत ही प्रतिक्रिया होती है ।

न केवल उत्तेजना वरन् निराशा, घृणा, उदासी, ईर्ष्या, द्वेष और तनावग्रस्त मनःस्थिति भी पाचन क्रिया को प्रभावित करती है । यदि ये मनोविकार देर तक टिके रहें तो पेट के रोग यहाँ तक कि अल्सर भी हो सकते हैं । डा० जैक्सन का तो यहाँ तक कहना है कि पेट संबंधी सभी रोग अस्तव्यस्त मनःस्थिति के कारण होते हैं ।

अल्सर फोड़े प्रायः पक्वाशय में होते हैं, जो छोटी आँत का वह भाग है जिससे पेट की धुरी दूसरे से जुड़ी रहती है । तनावग्रस्त या निराश उद्विग्न मनःस्थिति में पेट की लहरार सिकुड़न की गति बढ़ जाती है । फलतः पेट के भीतर विद्यमान खाई हुई वस्तएँ तथा अन्य रस पक्वाशय में आ जाते हैं । पेट की भीतरी पर्त तो श्लेष्मा द्वारा

सुरक्षित रहती है पर पक्वाशय में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं होती । उत्तेजित और उद्विग्न रहने के कारण जब उपरोक्त प्रक्रिया बार–बार संपन्न होती है तो पक्वाशय की भीतरी पर्त कई स्थानों से छिल जाती है और वहाँ फोड़ा बन जाता है । अल्सर के फोड़े पुरुषों को प्राय: ३० से ४० वर्ष की आयु के बीच होते हैं । ज्ञातव्य है जीवन का संघर्ष काल भी यही है । इसी वर्ग के लोग महत्वाकांक्षी होने के साथ–साथ अहमन्य भी होते हैं । अहमन्यता के विपरीत कहीं कोई बात होती दीखी और संतुलन डगमगाया अथवा असंतुलन स्वभाव का एक अंक बन गया तो अल्सर के अलावा और भी कई रोग इसी उम्र में आ घेरते हैं ।

उदाहरण के लिए रक्तचाप और हृदय रोगों को ही लो । किसी भी उत्तेजनापूर्ण स्थिति में हृदय की धड़कन बढ़ जाना, सांस तेजी से चलने लगना, रक्त का दौड़ा तेजी से होने के कारण शरीर का गर्म हो जाना आदि बातें को प्रत्यक्ष अनुभव की जा सकती हैं । यद्यपि ये सब व्यवस्थाएँ प्रकृति ने मनुष्य की रक्षा के लिए ही की हैं ताकि किसी संकट के समय शरीर के ये महत्वपूर्ण अंग पूरे शरीर की रक्षा करने में तत्परतापूर्वक सक्रिय हो जाएँ । उत्तेजना जब व्याधि विकार की तरह बन जाती है तो उसकी प्रतिक्रिया भी बार–बार शरीर के उन अंगों को उत्तेजित करती है और परिणामत: स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है ।

उतावली और हड़बड़ी में रहने की प्रवृत्ति प्राय: इन रोगों की जननी होती है । कामकाज निबटाने में उतावली से काम लेना और आराम करते समय भी कामकाज की चिंता, इन रोगों का स्वागत करती हैं । कुछ वर्षों पूर्व आयरलैंड में जन्मे ५७५ जुड़वाँ बच्चों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया । बाद में दो जुड़वाँ भाइयों में से एक को अमेरिका के नोस्टन शहर में ले जाया गया । जो वहाँ कुछ महीनों तक रहा । दोनों भाइयों को एक समान भोजन दिया गया, एक समान काम दिया गया लेकिन बाद में पाया गया कि वोस्टन में रहने वाला

भाई, डबलिन (आयरलैंड) में रहने वाले भाई की अपेक्षा हृदय रोग के दौरे की संभावना से ज्यादा ग्रस्त है । यह उस स्थिति में जब कि डबलिन वाला भाई अधिक घंटे तक काम करता था और अपने दूसरे भाई से ज्यादा मोटा भी था । अंतर केवल इतना ही था वोस्टन वाला भाई अपना हर काम करते समय उतावली और हड़बड़ाहट बरतता था जबकि डबलिन वाला भाई अधिक काम करता था ।

यों हृदय का दौरा अकस्मात् ही पड़ता है परंतु यह रोग कोई अचानक पैदा हो जाने वाली बीमारी नहीं है । प्रसिद्ध हृदय रोग विशेषज्ञ डा० जे बर्नार्ड के अनुसार यह बीमारी लंबे समय तक यहाँ तक कि कभी कभी २० वर्ष तक पनपती और बढ़ती रहती है । अनुमान लगाया गया है कि आधुनिक सभ्यता की यांत्रिक दौड़ जैसे जैसे तीव्र होती जाएगी वैसे वैसे रक्त चाप और हृदय रोगों का आक्रमण बढ़ता जाएगा ।

इन रोगों से बचाव के लिए डा० जे० बर्नार्ड ने कहा है आप चाहे रोगी हों या न हों । रोगी हों तो स्वस्थ होने के लिए अथवा रोगी न हों तो इस रोग से बचने के लिए आवश्यक है कि आधुनिक सभ्यता द्वारा प्रदत्त जीवन दर्शन बदला जाए । बहुत हबड़-दबड़, भाग-दौड़, व्यग्रता-उतावली और तीव्र मानसिक संवेगों से बचा जाए । जैसा जो कुछ जीवन में है, उसे स्वीकार किया जाए और सुनियोजित, शांत ढंग से उन्नति के लिए प्रयास किए जाएँ । परिवर्तन या उन्नति के लिए शारीरिक अथवा मानसिक बोझ उठाना हर दृष्टि से हानिकारक ही है ।

पाचन संस्थान, रक्तचाप और हृदय रोग ही नहीं सिर दर्द जैसा साधारण रोग भी प्रायः मानसिक असंतुलन के कारण ही होता है । डाक्टरों का कहना है कि सिर दर्द की शिकायत करने वाले ९० प्रतिशत रोगी केवल मानसिक तनाव के कारण सिर दर्द से पीड़ित होते हैं । एक अध्ययन में रोगियों से कहा गया है जब भी उन्हें सिर दर्द हो तब वे उस स्थिति को नोट करें, जो कि सिर दर्द होते समय

थी । इस अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर कहा गया कि सभी रोगियों को उसी स्थिति में सिर दर्द उत्पन्न हुआ जिसमें कि उन्होंने दुःख अनुभव किया ।

दुखोत्पादक भावनाओं के कारण गर्दन और सिर की मांसपेशियों में ऐंठन होती है और यह ऐंठन ही सिर दर्द के रूप में अनुभव होती है । इस अध्ययन के दौरान खासतौर से यह नोट किया गया कि ऐंठन का कारण कोई शारीरिक या मानसिक श्रम नहीं था वरन् उद्वेग अथवा दुःख की अनुभूति के परिणाम से ही ऐंठन होती थी । शरीर शास्त्रियों के अनुसार सिर दर्द का, मस्तिष्क से कोई संबंध नहीं होता । मस्तिष्क के चारों ओर खून ले जाने वाली शिराएँ ही सिर दर्द को जन्म देती हैं । तनाव अथवा दुखोत्पादक भावनाओं के समय यह नलिकाएँ फैल जाती हैं । इस फैलाव को कभी कभी कनपटी की त्वचा पर हाथ रखकर भी अनुभव किया जा सकता है । मांसपेशी की ऐंठन से होने वाला सिर दर्द इन नलियों के ज्यादा सिकुड़ जाने से होता है ।

माइग्रेन भी सिर दर्द का एक प्रकार है । यह सिर के एक तरफ ही होता है । कई बार इसका आक्रमण होने पर जी मिचलाने, उल्टी होने तथा आँखों से ठीक ठीक दिखाई न देने की शिकायत भी होने लगती है । डाक्टरों के अनुसार माइग्रेन का हमला उन लोगों पर ज्यादा होता है जो स्वयं की स्थिति और आस–पास की परिस्थितियों से बहुत अधिक असंतुष्ट या लगभग क्षुब्ध रहते हैं । स्वाभाविक ही ऐसी स्थिति में मानसिक तनाव उत्पन्न होता है और रोग हमला कर बैठता है ।

चिंता, तनाव, निराशा, हताशा, उद्विग्नता, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि भावनाएँ मन में क्षोभ और शरीर में रोग उत्पन्न करती हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है । प्रकृति ने शरीर में ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि स्वाभाविक क्रम से उत्पन्न होने वाले विकारों का परिशोधन अपने आप ही होता रहे, परंतु जब भावनाओं द्वारा भी विकार उत्पन्न होने लगता

है तो शरीर की सुविधा व्यवस्था कमजोर पड़ जाती है और उसकी प्रतिक्रिया रोगों के रूप में उत्पन्न होने लगती है । इनसे बचना चाहिए और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हों भी जबकि वास्तव में भावना क्षोभ उत्पन्न हों तो उनका समाधान सहज स्वीकार भाव से करना चाहिए ।

भावनात्मक संतुलन, न केवल जीवन की एक अनमोल निधि है, वरन् वह जीवन जीने की एक कला भी है । इस कला के द्वारा जीवन हराभरा, पल्लवित, पुष्पित और सुखी शांत बनाया जा सकता है, परंतु इस भावनात्मक संक्षोभों का उपचार क्या है ? डाक्टर जार्ज स्टीवेसन के अनुसार जब भी भावना क्षोभ या तनाव उत्पन्न होता है तो उसमें डूबने, झुलसने के बजाय उसे पहचानने की कोशिश करनी चाहिए कि उसका क्या कारण है । यह कारण कुछ भी हो सकता है, जो भी कारण हो उसका उपचार करने की बात सोचना चाहिए न कि उससे उत्तेजित होना चाहिए । उत्तेजित होकर हर किसी औषधि की शरण लेने से तो रोग घटते नहीं बढ़ते ही हैं ।

प्लेटो ने कहा था कि–"आत्मोपचार की अवहेलना करके शरीर के उपचार का कभी प्रयास नहीं किया जाना चाहिए ।" स्वास्थ्य के संबंध में प्रयुक्त अनेक शब्दों की उत्पत्ति चिकित्सा और अध्यात्म दोनों ही से हुई है । अंग्रेजी में इसे "हेल्थ" कहते हैं जो ग्रीक शब्द 'हील्थ' का अपभ्रंश है । इसका अर्थ है पूर्णता, समग्रता, अक्षुण्णता । इस हील्थ शब्द से अंग्रेजी का 'होली' शब्द निकला है अर्थात् पवित्रता । होली व्यक्ति न केवल पवित्र होता है वरन् वह 'होल' अर्थात् पूर्ण पुरुष होता है । इस सबका आशय यह है कि अध्यात्मवादी एवं पवित्र आदमी वही है जो पूर्ण है और पूर्ण वही है जो समग्र रूप से स्वस्थ है । इस प्रकार स्वास्थ्य और अध्यात्म एक–दूसरे के साझीदार हैं, न केवल साझीदार अपितु एक दूसरे से अन्योन्याश्रित रूप से जुड़े हुए हैं ।

ईसाई धर्म में प्रारंभिक दिनों में चर्च ही अस्पताल हुआ करते थे, जहाँ आत्मा, मन व शरीर तीनों ही का उपचार हुआ करता था ।

जिसकी आत्मा शुद्ध है, निष्पाप है उसका मन एवं शरीर कैसे विकृत चिंतन तथा असंतुलन की ओर बढ़ सकता है । 'प्रायश्चित प्रक्रिया' (कन्फेशन) के रूप में यह चर्च संस्था चिकित्सा का कार्य करती रही । मध्यकाल में बहिरंग पर ही दृष्टि केंद्रित हो जाने से पत्तियों को ही सुधारने, सँवारने का कार्य चला, जड़ पर कोई ध्यान नहीं दिया गया । शारीरिक सुख एवं भौतिक बाहुल्य हुआ एवं समृद्धि के अपरिमित साधनों के बावजूद मानसिक अशांति एवं शरीरगत व्याधियाँ बढ़ती चली गई । पिछले दिनों इस भूल को पाश्चात्य जगत के कुछ विद्वानों ने अनुभव किया है । अब वहाँ पेस्टर (पादरी), साइकेट्रिस्ट (मनःचिकित्सक) एवं फिजीशियन (काय चिकित्सक) की सम्मिलित टीम द्वारा रोग निदान एवं उपचार की प्रक्रिया पूरी की जाती है ।

ऐसे ही एक पादरी नार्मन विसेन्ट पील न केवल ईसाई जगत में अपितु विचारकों एवं चिकित्सकों के मध्य भी अपने जीवन दर्शन संबंधी क्रांतिकारी विचारों के कारण माने जाते हैं । जीवन के साधारण व्यावहारिक प्रश्नों को वे अधिक महत्व देते हैं, अन्य सामान्य ईसाई धर्मगुरुओं की तरह उसकी उपेक्षा नहीं करते, स्वास्थ्य रक्षा के संबंध में उनके विचार उतने ही ज्वलंत एवं प्रखर हैं । वे कहते हैं 'मेडीकल' एवं 'मेडीटेट' दोनों शब्दों का एक ही उद्‌गम है रोग मुक्ति तभी संभव है जब हम ध्यान करें । ध्यान चाहे अपने स्वयं के चिंतन के विषय में हों, चाहे अपने पिछले कर्मों के विषय में अथवा विधेयात्मक भविष्य की रूपरेखा बनाने के रूप में ।

बाइबल के 'एक्सोडस' ग्रंथ में लिखा है—''यदि हम उस परमपिता के निर्देशानुसार चलेंगे, प्राकृतिक जीवन जीएंगे एवं कभी निषेधात्मक दृष्टि से विचार नहीं करेंगे तो रोग हमारे पास भी नहीं फटकेगा ।''

वे कहते हैं कि हम में से कितने हैं जो भौतिक शरीर के स्वामी बनने का प्रयास करते हैं । सही रूप में इस शरीर का, भगवान के

अनुदान का यदि हम में से प्रत्येक व्यक्ति उपयोग करे तो वह क्या नहीं कर सकता ? ब्रैक रिची नामक अपने मित्र के जीवन से संबंधित एक घटना श्री हील बताते हैं । वह वेसबाल का प्रसिद्ध खिलाड़ी था, पर अपने उस हाथ को अधिक महत्व देता था, जिससे वह खेलता था । इसके लिए उसने ७५ हजार का बीमा भी करा रखा था । उसका कहना था कि "दैनिक प्रैक्टिस के लिए नहीं, किसी बड़े खेल के लिए मैंने अपने हाथ को सुरक्षित रखा है । लेकिन उस बड़े खेल का कभी मौका ही नहीं आया । उपयोग न करने से वह अपने क्रीड़ा कौशल को ही भूल गया । प्रयुक्त होने पर ही शरीर की एवं मन की कार्यक्षमता बढ़ती है । यदि इन्हें समुचित रूप में, ईश्वर के निर्देशानुसार उपयोग करने का प्रयास किया जाए तो हर व्यक्ति गतिशील, उत्साह युक्त एवं उल्लासमय जीवन व्यतीत कर सकता है । इसके लिए प्राथमिक आवश्यकता बताते हुए श्री नार्मन विसेन्ट पील कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने मन में स्वस्थ विचारों को स्थान देना चाहिए । मन के कुविचार ही शरीर में प्रवाहित होकर उसे रोग युक्त कर देते हैं । न्यू आटलिस के एक अस्पताल में एक सर्वेक्षण में ५०० में से ३८३ रोगी (७७ प्रतिशत) शारीरिक जाँच के बाद स्वस्थ पाए गए, पर जब उनसे गहराई से प्रश्न किए गए तो उनके अस्वास्थ्यकर निषेधात्मक विचार ही रोगों का कारण थे । प्रतिदिन अपने मन को गंदे विचारों से मुक्त करने का नियमित प्रयास करने के आध्यात्मिक निर्देश पाकर वे सभी स्वस्थ होकर चले गए । सद्‌भाव एवं सत्चिंतन ही सद्‌कर्म तथा स्वस्थ शरीर को जन्म देते हैं, यह एक अनुभूत अकाट्य सत्य है ।

एक महिला गंभीर रूप से बीमार उपचारार्थ अस्पताल में भरती थी । अपने दुख, कष्टों के लिए वह भाग्य एवं भगवान को निरंतर कोसती रहती थी । सारे उपचार व्यर्थ जा रहे थे । इसी बीच किसी शुभचिंतक रिश्तेदार ने उसे एक पुस्तक लाकर दी, जिसमें आशावादी चिंतन को महत्ता दी गई थी । किताब का शीर्षक था 'बैटर हेल्थ थ्रू

पॉजीटिव थिंकिंग' (विधेयात्मक चिंतन से उत्तम स्वास्थ्य) उसे पढ़ते ही उसका चिंतन आमूलचूल बदल गया । चिंता एवं निराशा को मन से निकाल फेंका । उसने मन में अच्छे विचारों को स्थान देने का संकल्प लिया ।

निराशावादी चिंतन वस्तुतः बहुत ही खतरनाक होता है । यह वैसे प्रयत्यक्षतः दृष्टिगोचर नहीं होता इसीलिए इसकी गंभीर भयावहता तब तक समझ नहीं आती, जब तक कि वह शरीरगत व्याधि का रूप न ले ले । डा० शिंडलर नामक एक विख्यात चिकित्सक जो विस्कासिन (अमेरिका) में अध्यात्म चिकित्सा करते थे–कहा करते थे कि अधिकांश लोगों की बीमारी का कारण सी. डी. टी. होता है । पूछने पर वह व्याख्या करते हुए बताते थे कि–'सी' अर्थात् केयर (चिंता) डी–अर्थात् डिफीकल्टीज (कठिनाइयाँ) और टी अर्थात् ट्रबल्स (कष्ट) । इन तीनों की परिणति मानसिक निराशा में होती है । कोई इंजेक्शन, औषधि उपचार ऐसे रोगी को स्वस्थ नहीं कर सकता । उनकी सलाह मात्र यही थी कि 'प्रतिदिन कम से कम दस मिनट तो प्रसन्न रहो और देखो तुम कैसे स्वस्थ होते चले जाते हो ।'

जेम गिल्बर्च एक प्रसिद्ध अंग्रेज टेनिस खिलाड़ी थी । उसकी मृत्यु बड़े दुखद ढंग से हुई । जब वह छोटी थी, उसकी माँ दंत चिकित्सक के पास अपना दाँत निकलवाने गई । जैसे ही वे दंत चिकित्सक की कुर्सी पर बैठीं, हृदयाघात जो कि मात्र एक संयोग था, के कारण वहीं प्राण खो बैठीं । इस घटना ने गिल्वर्ट को काफी भयभीत कर दिया । यह तस्वीर आगामी तीस वर्षों तक उसके मस्तिष्क पर छाई रही । दाँत के कष्ट ने उसे कई बार परेशान किया, पर अचेतन में घुसे भय ने उसे चिकित्सक के पास जाने से रोक दिया । एक बार जब कष्ट असहनीय हो गया, तो उसे जबरदस्ती चिकित्सा हेतु ले जाया गया । जैसे ही वह.दंत चिकित्सक की कुर्सी पर बैठी, उसके सामने फिर वही दृश्य घूम गया और तुरंत उसकी मृत्यु हो गई । यह उदाहरण बताता है कि चिंता, डर एवं निराशा

किस प्रकार स्थूल शरीर को इस सीमा तक प्रभावित करते हैं ।

जीवनी शक्ति को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करना एवं उसका दैनंदिन जीवन में अभ्यास करना स्वस्थ रहने के लिए बहुत आवश्यक है । हम जब भी कुछ कहते हैं वही हमारे विचारों में होता है और जो कुछ विचारों में होता है, वह निश्चित ही जीवन के क्रियाकलापों में रूपांतरित होता है । बीमारी तभी हम पर हावी होती है जब जीवनी शक्ति क्षय होती चली जाती है । ईश्वर की स्वास्थ्यदायक शक्ति हर समय हर व्यक्ति जीवधारी के शरीर, मन व आत्मा को अनुप्राणित करती रहती है । जितने भी व्यक्ति दीर्घकाल तक जिए हैं, जीवन जीने की विद्या को जानकर ही स्वस्थ रह पाए हैं । यदि इस सूत्र का अनुसरण किया जा सके तो हर क्षण, हर पल उल्लास पूर्ण रीति से जिया जा सकता है ।

अक्षुण्ण स्वास्थ्य की धुरी आहार नहीं, चिंतन

सामान्यतः समझा जाता है कि शरीर का पोषण और विकास पेट में पहुँचने वाले आहार से होता है । पेट में आहार पहुँचता है और वहाँ उसका पाचन होकर रस रक्त आदि का निर्माण होता है । जो शरीर के विभिन्न अंग अवयवों में पहुँचकर उन्हें शक्ति प्रदान करते हैं । उस शक्ति से विभिन्न अंग अवयव काम करने योग्य ऊर्जा प्राप्त करते हैं । इसलिए स्वच्छ, पौष्टिक और संतुलित भोजन की आवश्यकता एक स्वर से बताई, समझाई व स्वीकार की जाती है ।

शरीर स्वस्थ रहें इसके लिए निश्चित ही पौष्टिक भोजन का होना आवश्यक है, किंतु उससे भी अधिक है मानसिक स्थिति का संतुलित और शुचितर होना । भोजन से शक्ति मिलती है और शक्ति से स्वास्थ्य, किंतु भोजन की पचाने में जो शक्ति खर्च होती है, वह कहाँ से आती है ? भोजन को पचाने की शक्ति ही नहीं शरीर के

अन्यान्य अंग अवयवों को भी समुचित ढंग से सक्रिय और सुव्यवस्थित रखने के लिए आवश्यक शक्ति का स्रोत भी मस्तिष्क ही है । मस्तिष्क यदि अशांत है तो कितना ही अच्छा और पौष्टिक भोजन क्यों नहीं किया जाए ? इससे कोई विशेष लाभ नहीं होता । इसके विपरीत जब मानसिक स्थिति शांत और संतुलित हो तो रूखा, सूखा भोजन खाकर भी स्वस्थ रहा जा सकता है । आदिवासियों और जंगलों में कंदमूल खाकर भी अपना जीवन व्यतीत करने वाले लोगों को कहाँ संतुलित और पौष्टिक भोजन मिल पाता है ? फिर भी वे शहरी और संपन्न व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ देखे जा सकते हैं । इसका कुल कारण इतना ही है कि वे शहरी लोगों की अपेक्षा कम अशांत और उद्वेलित मनःस्थिति का शिकार बनते हैं ।

यदि भोजन से ही शक्ति मिलने की बात में कुछ वजन होता, तो प्रश्न उठता कि काम के बाद आराम की आवश्यकता क्यों पड़ती है ? जैसे ही थकान चढ़ती है वैसे ही कुछ खा–पीकर काम चला लिया जाता, किंतु सोना हर स्थिति में आवश्यक और उपयोगी होता है, क्योंकि इससे मस्तिष्क को आराम मिलता है । रात भर सोने के बाद सुबह जागने पर प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको इतना तरोताजा अनुभव करता है कि वह पूर्ववत् श्रम कर सके और कठोर दिनचर्या का पालन कर सके ।

मस्तिष्क को दो भागों में बाँटा जा सकता है । एक वह जिसमें मन और बुद्धि काम करती हैं । सोचने, विचारने तथा समझने की क्षमता इसी भाग में रहती है । दूसरा भाग वह है जिसमें आदतें संग्रहीत रहती हैं और वहाँ से शरीर के क्रिया कलापों का निर्धारण किया जाता है । शरीर की नाड़ियों में रक्त बहता है, हृदय धड़कता है, फेफड़े श्वांस–प्रश्वांस प्रक्रिया संपन्न करते हैं, माँसपेशियाँ सिकुड़तीं और फैलती हैं, पलकें झपकती हैं, खुलती हैं, सोने जागने का, खाने पीने और मलमूत्र त्यागने का क्रम अपने ढर्रे पर अपने आप स्वसंचालित ढंग से चलता रहता है । यह सब अनायास ही नहीं

होता । इसके पीछे निरंतर सक्रिय मन की वह शक्ति काम करती रहती है जिसे अचेतन मस्तिष्क कहते हैं । शरीर के यंत्र अवयव अपना अपना काम करते रहने योग्य कलपुर्जों से बने हैं, पर उनमें अपने आप संचालित रहने की क्षमता नहीं होती । यह शक्ति उन्हें मस्तिष्क के इस अचेतन भाग से मिलती है ।

मस्तिष्कीय क्रियाकलाप छोटी छोटी कोशिकाओं के माध्यम से चलता रहता है । इन्हें नर्बसैल्ल या तंत्रिका कोशिकाएँ कहते हैं । उनकी संख्या लगभग दस अरब होती है । इन्हें आपस में जोड़ने वाले नर्व फाइबर (तंत्रिका तंतु) और उनके इन्सुलेशन खोपड़ी के भीतर खचाखच भरे रहते हैं । एक तंत्रिका कोश का व्यास एक इंच के हजारवें भाग से भी कम होता है और उसका वजन एक औंस के आठ अरबवें भाग से भी कम है । तंत्रिका तंतुओं से होकर जो विद्युत धारा दौड़ती है वही ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से आवश्यक सूचनाएँ उस केंद्र तक पहुँचाती हैं । तंत्रिका कोशाणु एक सफेद धागे युक्त तंतु होता है, यह तंतु अन्यान्य न्यूट्रानों से जुड़ा रहता है । इस प्रकार पूरा मस्तिष्क इन परस्पर जुड़े हुए धागों का एक बुना हुआ तंतु जाल है । इन्हीं सूत्रों से वे परस्पर संबद्ध रहते हैं और अपने कार्यों तथा उत्तरदायित्वों का परस्पर मिलजुल कर निर्वाह करते हैं ।

चाहे हम सो रहे हैं अथवा जग रहे हों, हर समय लगभग १४०० ग्राम भारी मस्तिष्क, मेरुदण्ड एवं लगभग १० अरब तंत्रिकाओं द्वारा देह की समस्त क्रियाओं का नियंत्रण एवं संचालन होता रहता है । अस्तु यह नहीं समझना चाहिए कि भोजन से शक्ति प्राप्त होती है । शक्ति का उद्‌गम केन्द्र तो मस्तिष्क है जो पूरे शरीर में अपना एक जाल बिछाए हुए है और उस जाल के माध्यम से शरीर को नियंत्रित करता है । मस्तिष्क से निकल कर नासिका कान, नेत्र, मुँह और त्वचा तक पहुँचने वाली तंत्रिकाएँ उन्हें सक्रिय रहने के लिए शक्ति ही प्रदान नहीं करतीं, बल्कि उन्हें आदेश और निर्देश भी प्रदान करती हैं । यदि किसी भी अंग से इनका संबंध विच्छेद हो जाए तो

वह अंग पाचन संस्थान से पर्याप्त रस रक्त मिलते रहने के उपरांत भी कार्य में सक्षम नहीं रह जाता ।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि मस्तिष्क ही देखता है, आखें नहीं, मस्तिष्क ही सुनता है, कान नहीं और मस्तिष्क ही स्पर्श आदि का अनुभव करता है, त्वचा नहीं । संक्षेप में यदि मस्तिष्क का शरीर में महत्व की दृष्टि से कोई स्थान निर्धारित करना हो तो उसे शरीर राज्य का सम्राट कहा जा सकता है तथा वही कर्ता-धर्ता और भोक्ता भी है, क्योंकि उसके बिना शरीर का कोई भी क्रिया-कलाप संपन्न होना संभव नहीं है।

जीव शात्रियों ने अपने प्रयोगों और अनुसंधानों से जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे और भी विस्मय विमुग्धकर हैं । डा० जेम्स फील्ड ने अपने दीर्घकाल के प्रयोगों और अन्वेषणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि यदि हम बिना भूख के थके हुए मस्तिष्क के समय भोजन करते हैं तो उस भोजन से शरीर को शक्ति मिलने के स्थान पर विपरीत प्रभाव ही होता है, क्योंकि तब थका हुआ मस्तिष्क पाचन संस्थान को सुसंचालित रखने की स्थिति में नहीं रहता । इसके अलावा उन्होंने यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया कि रोगी लंबे समय तक बिना भोजन के रह सकता है क्योंकि मस्तिष्क को भोजन की आवश्यकता नहीं होती । उसका पोषण आहार से कम, विचारों से अधिक होता है । यदि अच्छे विचार मस्तिष्क में आते रहें तो मानसिक संतुलन बना रहता है और वह मनःसंस्थान अधिक कुशलता के साथ कार्य करता रह सकता है ।

भूख के कारण रोग उत्पन्न होने की संभावना को नकारते हुए डा० जेम्स फील्ड ने कहा कि 'भूख के कारण रोगों का सामना करना पड़ता है, यह सोचना गलत है । सही बात तो यह है कि अधिकांश रोग भोजन के कारण ही होते हैं क्योंकि तब मस्तिष्क की शक्ति अन्य क्रियाओं के साथ भोजन को पचाने में जितना योगदान दे सकती है उतना नहीं दे पाती । अतः यह तथ्य भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि

शरीर में शक्ति का स्रोत भोजन नहीं, मस्तिष्क है और शक्ति संपन्न स्वरूप तथा पुष्ट शरीर के लिए भोजन से अधिक मानसिक स्थिति का संतुलित होना अधिक आवश्यक है ।

अमेरिका के मनःशास्त्री डा० जान ए० शिण्डलर ने अपनी पुस्तक "रुग्णता की गहराई" में लिखा है–'आहार–विहार की अनियमितता से जितने रोग होते हैं, उसकी तुलना में मानसिक असंतुलन के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों की संख्या कहीं अधिक है ।

शरीर की संरचना ऐसी है कि वह बाहरी हमलों, टूट–फूटों और प्रतिकूलताओं से जूझती और छुटपुट गड़बड़ियों का मुकाबला करती रह सके । अन्य प्राणियों को भी प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ता है और आघातों को सहने तथा कष्ट कारक स्थिति में होकर गुजरने के लिए विवश होना पड़ता है । इतने पर भी उनके शरीर गड़बड़ाते नहीं, पटरी बिठा लेते हैं और टूट–फूट को संभाल कर अपनी गाड़ी चलाते रहते हैं । चोटें तो लगती हैं, पर उनमें से किसी को बीमारियों के चंगुल में फँस कर कराहते रहने की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता ।

मनुष्य ही है जो मानसिक असंतुलन उत्पन्न करता और उनके विक्षोभों के फलस्वरूप शरीर के विभिन्न अवयवों की सामान्य कार्य पद्धति में अवरोध उत्पन्न करता है । फलतः बीमारियाँ उसे घेरती हैं ।

शरीर यात्रा में रक्त संचार का कितना ही महत्व क्यों न हो वस्तुतः उसका नियंत्रण केन्द्र मस्तिष्क में रहता है । हृदय पोषण देता है यह सही है, पर उसमें प्रोत्साहन एवं नियमन की क्षमता नहीं है, यह कार्य मस्तिष्क का है । उसी के ज्ञान तंतु मेरुदण्ड के माध्यम से समस्त शरीर में फैलते हैं और निर्देश देकर सारे काम कराते हैं । मस्तिष्क में नींद आने लगे तो अन्य अंग सहज ही शिथिल होते चले जाते हैं । आकुंचन–प्रकुंचन, निमेष–उन्मेष, श्वांस–प्रश्वांस जैसी क्रियाएँ अचेतन मनःसंस्थान के इशारे पर ही चलती हैं । जीवनी

शक्ति भोजन से नहीं वरन् मनोगत साहसिकता और प्रसन्नता के आधार पर मिलती और पनपती है । यदि इस केन्द्र में गड़बड़ी चले तो उसका प्रभाव शरीर के विभिन्न अवयवों पर पड़े बिना रह नहीं सकता ।

रोगों की जड़ शरीर में हो तो काय चिकित्सा से सहज सुधार होना चाहिए । पोषण की पूर्ति आहार से होनी चाहिए और विषाणुओं को औषधि के आधार पर हटाने में सफलता मिलनी चहिए, किंतु देखा जाता है कि जीर्ण रोगियों की काया में रोग इस बुरी तरह रम जाते हैं कि उपचारों की पूरी पूरी व्यवस्था करने पर भी हटने का नाम नहीं लेते । एक के बाद दूसरे चिकित्सक और नुस्खे बदलते रहने पर भी रुग्णता से पीछा नहीं छूटता । इलाज के दबाव में बीमारियाँ रंग रूप बदलती रहती हैं, पर जड़ें न कटने से टूटे हुए वृक्ष फिर से नई कोपलों की तरह उगते रहते हैं । जड़ों को खुराक मिलती रहे तो टहनियाँ तोड़ने से भी पेड़ सूखता नहीं है ।

शरीर और मनःशास्त्र के मूर्धन्य विशेषज्ञ डा० हेन्स मिली ने अपने अस्पताल के प्रायः तीन हजार रोगियों को कई प्रकार से जाँच पड़ताल की और वे इस नतीजे पर पहुँचे कि पुराने रोगियों में से अधिकांश की व्यथा मनःक्षेत्र की वृत्तियों से संबंधित थीं । दवादारू के प्रयोग उन पर कारगर नहीं हुए, किंतु जब मानसोपचार आरंभ किया गया और उनके चिंतन क्षेत्र में घुसी हुई अनुपयुक्त मान्यताएँ हटाई गईं तो वे बिना दवादारू के ही अच्छे होने लगे और खोया हुआ स्वास्थ्य पुनः वापस प्राप्त कर सके ।

सत्ताईस साल के प्रयोगों के उपरांत डा० सीली का निष्कर्ष यह है कि गर्दन एवं कमर दर्द के रोगियों में से ७५ प्रतिशत, थकान, तनाव और सिर दर्द वालों में से ८० प्रतिशत, उदर रोगियों में ७० प्रतिशत मानसिक असंतुलन के कारण इन व्यथाओं में फँसे और मूल स्थिति यथावत बने रहने के कारण अनेकों चिकित्साएँ परिवर्तित करते रहने पर भी अस्वस्थ ही बने रहे । व्यथा से छुटकारा तब

मिला जब वे अपनी मान्यताओं और असंतुलनों से छूटने के उपाय अपनाने पर सहमत हुए ।

जर्मनी की मनोविज्ञान शोध परिषद ने संपन्न और निर्धन परिवार के एक–एक सौ बच्चे स्वास्थ्य परीक्षण के लिए चुने । पाया गया कि सुविधा एवं असुविधा के कारण उनके स्वास्थ्य में कोई अंतर नहीं पड़ा । बढ़िया और घटिया भोजन के रहते हुए भी उनके बीच स्वास्थ्य संबंधी कोई बड़ा अंतर नहीं पाया गया, किंतु जब दूसरे सौ–सौ बच्चों को इस दृष्टि से जाँचा गया कि पारिवारिक परिस्थितियों का उन पर क्या असर पड़ता है तो तथ्य बिलकुल दूसरे ही सामने आए । मालूम पड़ा कि जिनके परिवार में तनाव, मन–मुटाव, असंतोष, विग्रह रहता था, बच्चे न केवल दुर्बल पाए गए वरन् बीमारियों तथा बुरी आदतों के भी शिकार बने हुए थे । इसके विपरीत जिन घरों में स्नेह, सौजन्य और सहयोग का वातावरण था, वे न केवल शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ वरन् मानसिक दृष्टि से भी कुशल पाए गए ।

अब यह तथ्य क्रमशः अधिक उजागर होता जा रहा है कि शरीर मात्र रासायनिक पदार्थों का ढाँचा नहीं है वरन् उसकी दृढ़ता एवं क्षमता पर मनःस्थिति का भारी प्रभाव रहता है । आहार–विहार का कितना ही महत्व क्यों न हो, पर मानसिक संतुलन के बिना सुविधाओं और अनुकूलताओं के रहते हुए सुदृढ़ आरोग्य प्राप्त कर सकना संभव नहीं । इस निष्कर्ष पर पहुँचने के उपरांत अब चिकित्सा क्षेत्र के मूर्धन्य यह सोचने लगे हैं कि मानवी स्वास्थ्य की समस्याओं का स्थायी समाधान उनके चिंतन में हलकापन लाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए । जो मनोविकारों से दबे हुए हैं उन्हें उनसे छुड़ाने की प्रक्रिया को चिकित्सा विज्ञान में सम्मिलित करना चाहिए ।

अमेरिकी मनोवैज्ञानिक चिकित्सक रेबेका ने अनेकों रोगियों की चिकित्सा के उपरांत यह निष्कर्ष निकाला कि बेहद अहंकार की भावना से शरीर के कई अंग कठोर हो जाते हैं और व्यर्थ अहंकारी

जीवन जीने तथा असली रूप छिपाने से हृदय कठोर हो जाते हैं और मूत्राशय में पथरी रोग पनपता देखा गया ।

घृणा, ईर्ष्या, क्लेश–कलह के भावों से भीतर नसों में रस या रक्त प्रवाह मंद हो जाता है । इन्हीं महिला चिकित्सक का मत है कि निःशंक, प्रसन्नता और निर्भय भावना शरीर के भीतरी अंगों में तेल मालिश का काम करती है ।

देखा गया है कि मन के उतार चढ़ावों का प्रभाव शरीर पर तत्काल पड़ता है । क्रोध आने से चेहरा लाल पड़ जाता है, रक्त संचार की गति बढ़ जाती है, शरीर काँपने लगता है । इसके विपरीत शोक के समय चेहरा पीला पड़ जाता है, आदमी चिंतित व बेहाल हो जाता है । बार–बार क्रोधित या आवेशित होने से आमाशय, पक्वाशय, तिल्ली, जिगर, रक्तवाहिनियों आदि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । जब कि भय व शोक के समय रक्तवाहिनियाँ संकुचित हो जाती हैं । रक्त प्रवाह धीमा पड़ जाता है । जिससे नाना प्रकार की बीमारियाँ धर पकड़ती हैं ।

भले या बुरे विचार अपना प्रभाव धीरे धीरे मनुष्य की मनःस्थिति पर छोड़ते–छोड़ते स्थायी रूप धारण कर लेते हैं, जिससे उनके ही अनुरूप मन का स्थायी निर्माण होता है । सद्विचारों से जहाँ शारीरिक, मानसिक कार्यक्षमता की वृद्धि होती है, उसके विपरीत कुविचारों का दुष्परिणाम यह होता है कि रक्तचाप, मधुमेह, अपच, नपुंसकता आदि रोग प्रकट होने लगते हैं । इस वर्ग के रोगों को मानस रोगों की श्रेणी में रखा जा सकता है ।

स्वास्थ्य समस्या का वास्तविक समाधान खोजने वाले रोगियों, विचारकों एवं चिकित्सकों को इस तथ्य को समझना होगा कि आरोग्य का स्थिर रहना एवं गड़बड़ाना अधिकतर मानसिक संतुलन पर निर्भर रहता है । अवांछनीय चिंतन से बचकर हल्की–फुल्की जिन्दगी जीने की नीति पसंद की जा सके तो भयावह नजर आती स्वास्थ्य की समस्या को सरलतापूर्वक सुलझाया जा सकता है ।

हल्के फुल्के रहें, स्वस्थ बनें

शरीर स्वतंत्र रूप से कुछ भी नहीं करता । वह तो एक यंत्र मात्र है, जिसका संचालन मन रूपी यांत्रिक करता है । भारतीय मनीषियों ने इसे एक रथ बताया है और मन को सारथि कहा है । सारथि रथ की उचित देखभाल नहीं करेगा तो उसका टूटना फूटना स्वाभाविक है । मन भी यदि कुमार्गगामी, कुसंस्कारी है तो उसका प्रभाव शरीर के रोगाक्रांत होने के रूप में लक्षित होता है । अब समझा जाता था कि बीमारियों का कारण मनुष्य के शरीर में ही कहीं विद्यमान है । उन्हीं का उपचार किया जाता था, किंतु चिकित्सा विज्ञान क्रमशः इस निष्कर्ष पर पहुँचता जा रहा है कि बीमारियाँ शरीर में उत्पन्न नहीं होतीं बल्कि मन से उपजती हैं ।

तीन सौ से भी अधिक रोगियों का अध्ययन कर डा० जेम्स चार्ल्स ने एक कर्नल के बेटे का उदाहरण देते हुए कहा है कि छोटी मोटी बीमारियाँ ही नहीं रक्तचाप, यक्ष्मा, कैन्सर तथा हृदय रोग जैसी भयावह बीमारियाँ भी मानसिक कारणों से उत्पन्न होती हैं । उन्होंने रक्तचाप के एक मरीज का विचित्र केस सुलझाया । यह रोग आमतौर पर बड़ी उम्र में होता है, परंतु उसके पास जो मरीज लाया गया था वह २१ वर्ष का युवक था । पिता मिलेट्री में कर्नल थे । अच्छा खासा संपन्न परिवार था । किसी बात की कमी नहीं, किसी तरह की चिंता नहीं । स्वास्थ्यप्रद भोजन, माता–पिता का भरपूर लाड़ प्यार और हर तरह के साधन सुविधाएँ, फिर यह रोग क्यों उत्पन्न हुआ ?

कारणों को कुरेदते हुए डा० जेम्स चार्ल्स ने उसकी पिछली जिन्दगी में झाँका । बीमारी की जड़ें उस समय पड़ी थीं जब लड़के ने अपने पिता की जेब से दस रुपए का एक नोट निकाला और सिनेमा देख आया । कर्नल के पास वैसे ही पैसों की कमी नहीं थी । बेफिक्र और पैसे वाले कर्नल साहब को यह भी पता नहीं रहता था कि उनकी जेब में कितने पैसे हैं ? सो ध्यान नहीं गया । एक बार

पैसे निकाल लेने पर जब उसकी कोई प्रतिक्रिया देखने में नहीं आई तो लड़के ने समझ लिया पिताजी बाबले हैं, उन्हें कुछ पता नहीं चलता और फिर जो सिलसिला चल पड़ा तो ऐसा चला कि लड़का बड़ी रकमों पर हाथ साफ करने लगा । कुसंगति में पड़कर वह शराब भी पीने लगा और दूसरी गंदी बातों में भी पैसा खर्च करने लगा ।

दूसरे लोगों से अपने बेटे की हरकतों के बारे में जब कर्नल साहब को पता चला तो उन्होंने लड़के को बुरी तरह डाँटा । गंदा नाला एक बार बह निकलता है तो दुर्गन्ध भी अभ्यास में आ जाती है और वह स्वाभाविक लगने लगती है । फिर यदि उस नाले को एकाएक रोक दिया जाए तो दुर्गंध एक ही स्थान पर यकायक तीव्र हो उठती है । ऐसा ही हुआ । कर्नल साहब ने एकाएक ब्रेक लगाया तो लड़के के मानसिक कुसंस्कार एक स्थान पर रुककर मानसिक निराशा और आतंक के रूप में लड़ने लगे । उसे हाई ब्लडप्रेशर की बीमारी हो गई । काफी इलाज कराया गया, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ । अंत में उसे जेम्स चार्ल्स के पास ले जाया गया जो अपनी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति के लिए काफी प्रसिद्ध थे । डा० जेम्स ने सहानुभूतिपूर्वक लड़के का इलाज किया तथा उससे पिछली सारी बातें उगलवाई । उसके मन से भय और आतंक के काँटे बीने तब कहीं जाकर वह पूरी तरह स्वस्थ हो सका ।

डा० जेम्स ने अपनी पुस्तक ''हाउ टू गेट फिजिकल एण्ड मेण्टल हेल्थ'' में लिखा है कि अधिकांश बल्कि लगभग सभी रोगों की जड़ शरीर में नहीं मन में होती है । संताप, कष्ट, आकस्मिक विपत्ति, अप्रत्याशित दुर्घटनाओं के कारण तो सैकड़ों लोग असमय में ही दम तोड़ देते हैं, परंतु कई मनोविकार धीरे धीरे अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं तथा मनुष्य को रुग्ण बनाते हैं । दीर्घकाल के संताप से रक्त संचार मंद पड़ जाता है, चेहरा पीला, त्वचा शुष्क और गंदली हो जाती है ।''

इसी सिद्धांत की पुष्टि करते हुए डा० आल्स्टन ने कहा है, 'यह शरीर का साधारण नियम है कि आमोद–प्रमोद, आशा, प्रेम और स्वास्थ्य एवं सुख की कामना शरीर को सुदृढ़ तथा उसे भरपूर स्वास्थ्य प्रदान करती है । वहीं यह भी एक तथ्य है कि भय, उदासीनता, ईर्ष्या, घृणा, निराशा, अविश्वास और अन्य मनोविकार शरीर के क्रिया व्यापार को भी रुग्ण बनात हैं ।''

एल्म ममेरियन का कथन है कि ''मनःक्षेत्र में जमा हुआ कोई विचार जब बहुत अधिक क्षुब्धता उत्पन्न करता है तब उसकी प्रतिक्रिया कम ज्यादा रूप में शरीर पर भी प्रकट होती है । कई बार तो यह प्रभाव इतना अधिक होता है कि मृत्यु तक हो जती है ।'' मेअल्से का कथन है कि क्षोभ के कारण शारीरिक पोषण में निश्चित रूप से थकावट या व्यतिक्रम आता है । इसके कारण रक्तवाहिनी नालियाँ असामान्य रूप से फैलती और सिकुड़ती हैं ।

अफ्रीका में रहने वाले व्यक्तियों का स्वास्थ्य परीक्षण करते समय पाया गया है कि सामान्यतः वे स्वस्थ रहते हैं । उन्हें कभी कभार ही कोई रोग होता है । देखा गया है कि अफ्रीका के लोग तभी बीमार होते है जब या तो वे क्रोधित होते हैं अथवा किसी विपत्ति के कारण भयभीत हो जाते हैं । सर रिचर्डसन ने प्रमेह रोग पर अनुसंधान करते हुए पाया है कि कई बार प्रमेह रोग नहीं होता है, फिर भी उसी जैसी वेदना, पीड़ा और लक्षण उभर आते हैं । परीक्षण करने पर उस स्थिति में यद्यपि प्रमेह के कोई कारण नहीं दिखाई देते, किंतु रोग की पीड़ा वैसी ही होती है । इसका कारण उन्होंने अचानक किसी मानसिक आघात का पहुँचना पाया है ।

बहुत अधिक चिंता करने या किसी चिंता में घुलते रहने के कारण त्वचा संबंधी रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं । डा० जार्ज पेगेट के अनुसार फोड़े फुंसियाँ रक्त विकार की अपेक्षा चिंता और तनाव के कारण ही अधिक होती हैं और रक्त विकार भी प्रायः मानसिक कारणों से ही उत्पन्न होता है । पेगेट ने अपनी पुस्तक ''द हेण्ड बुक ऑफ

साइकोथैरेपी'' में लिखा है, बहुत से लोगों को, जो त्वचा संबंधी रोगों से पीड़ित हैं, देखने के बाद और उनका परीक्षण करने पर मुझे विश्वास हो गया है कि इनका प्रमुख कारण बहुत अधिक और लंबे समय तक चिंता करना ही रहा है । इसी पुस्तक में डा० मुर्चिसन के प्रयोगों को उद्‌धृत करते हुए जार्ज पेगेट ने लिखा है कि फेफड़े संबंधी रोगों का प्रमुख कारण लंबे समय तक किसी मानसिक आघात को सहते रहना है । इतना ही नहीं पथरी, वक्षस्थल के कैंसर जैसे रोगों का कारण भी दिन रात चिंता में घुलते रहना है ।

डा० रिचर्डसन ने लिखा है कि बेमन से लगातार मानसिक श्रम करते रहने के कारण चमड़ी पर खरोंच तथा अन्य त्वचा संबंधी बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । उनके अनुसार क्रोध, आवेश और उत्तेजना के समय अथवा निराशा और हताशा की मनःस्थिति में शरीर के भीतर विषैले रसायन उत्पन्न हो जाते हैं ।

इन शारीरिक रोगों के अतिरिक्त कई बीमारियाँ तो मानसिक ही होती हैं । उन्हें मनोरोग ही कहा जाता है । यद्यपि इन मनोरोगों के लक्षण शरीर पर भी प्रकट होते हैं, परंतु मुख्यतः इनका प्रत्यक्ष संबंध मन से ही होता है । हताशा रहने तथा अकारण किसी बात को लेकर भयभीत होने की दो बीमारियाँ जिन्हें मनःशास्त्री डिप्रेशन तथा फोबिया कहते हैं आधुनिक सभ्यता की देन कही जा सकती हैं । इस तरह के रोगी सामाजिक और पारिवारिक कर्तव्यों के प्रतिकूल भावना रखते हैं । बात–बात में चिढ़ जाना या उबल उठना तथा इस प्रकार चिड़चिड़ा जाने, गरम होने के बाद अचानक रोने लगने के प्रमुख लक्षण इन रोगियों में देखे जा सकते हैं ।

इस तरह के रोगियों के लिए मनोविज्ञान चिकित्सा, रिक्रियेशनल अथवा एक्यूपेशनल थैरेपी आदि प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों का उपयोग किया जाता है । रोगी की मानसिक संपन्नता और स्थिरता के लिए उसे किस प्रकार के वातावरण में रखा जाए ? कैसे बातचीत की जाए ? क्या सुझाव और परामर्श दिए जाएँ आदि बातों का ध्यान रखा

जाता है । इन सबके पूर्व पिछले जीवन की सारी गुप्त और प्रकट बातों को बता देने के लिए कह दिया जाता है । कारण कि अनेकों प्रयोगों और प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि रोगों की जड़ें मनुष्य के मन में जमे हुए कुसंस्कार ही होते हैं ।

रोगी के रोग का संपूर्ण उपचार करने के लिए अब चिकित्सा विज्ञानी उसके व्याधि लक्षणों की अपेक्षा उसके स्वभाव, आदतों, कार्यों, चिंताओं का पर्यवेक्षण करने पर अधिक जोर देने लगे हैं । जहाँ तक छोटी मोटी भूलों के कारण रोग उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, वहाँ निष्कासन प्रयोग अधिक सफल और प्रभावशाली सिद्ध हुआ है, किंतु अपराध मनोवृत्ति के और उन संस्कारों को जिन्हें रोगी स्वयं नहीं पहचानता उन्हें मनोवैज्ञानिक कैसे ठीक कर सकता है ? उसके लिए प्राचीनकाल में भारतीय मनीषियों ने कृच्छ चांद्रायण जैसे तपश्चर्या प्रधान व्रतों का निर्धारण किया था । मनोवैज्ञानिक भी अब इस विधि की कारगर प्रभावशीलता को एक स्वर से स्वीकार करने लगे हैं । कृच्छ चांद्रायण में जब शरीर में अन्न ही नहीं पहुँचता तो तात्कालिक बुरे विचार शिथिल पड़ जाते हैं और अंतः में दबे हुए जन्म जन्मांतरों के संस्कार स्वप्नों के रूप में, अनायास विचारों के रूप में निकल कर साफ होने लगते हैं ।

इस पद्धति की वैज्ञानिकता का परीक्षण करने से पूर्व प्रचलित मनोचिकित्सा पद्धति सिद्धांततः सही सिद्ध होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से कुसंस्कारों को और भी उकसाने वाली तथा मन में नई उत्तेजनाएँ भरने वाली सिद्ध हो रही थी । हिस्टीरिया के मामले में विशेषतः ऐसा ही होता है, जिसे भूत प्रेत का प्रकोप भी कहा जाता है । यह वस्तुतः किसी ऐसे व्यक्ति की मानसिक चेतना होती है, जिसके साथ रोगी ने कभी छल किया हो, कपट किया हो, हत्या या ऐसा ही कोई बुरा कृत्य किया हो जिससे शरीर के नष्ट हो जाने पर भी पीड़ित व्यक्ति की चेतना में उससे प्रतिशोध लेने की बात दबी रह जाती है । चेतना का वही संधाम, भले ही पीड़ित व्यक्ति जीवित हो अथवा मृतक

प्रेत पीड़ा जैसे लक्षण उत्पन्न करता है ।

साइकोसोमैटिक रोग प्रत्यक्ष में शारीरिक होते हैं किंतु उनकी जड़ मानसिक विचारों में ही होती है । मस्तिष्क का विचार संस्थान उस नाड़ी जाल को प्रभावित करता है जो शरीर में गूँथा है । अच्छे विचारों के उमड़ने से शरीर में स्वास्थ्यवर्धक और आरोग्यवर्धक रस उत्पन्न होते हैं, जो रक्त में मिलकर स्वास्थ्य पोषक तत्व उत्पन्न करते हैं । उसी प्रकार खराब विचार विष उत्पन्न करते हैं अतएव यह बात निर्विवाद सत्य है कि आज की बढ़ती हुई बीमारियों का इलाज औषधियाँ नहीं, विचार और चिंतन प्रक्रिया में संशोधन ही है । दूषित विचार मानसिक परेशानी के रूप में उत्पन्न होते हैं तथा अल्सर, कैंसर, टी० बी० जैसे भयंकर रोगों के रूप में फूट पड़ते हैं । कई बार तो कई जन्मों के संस्कार इस बुरी तरह पीछा करते हैं कि उन्हें समझ पाना ही कठिन होता है । उन सबका एक ही उपचार है कि मनुष्य व्यवहार, आचरण और कर्तव्य में सचाई का परित्याग न करें ।

स्वस्थ रहने के लिए उच्चस्तरीय स्वार्थ साधना की आवश्यकता और महत्ता को विज्ञान भी स्वीकार करनें लगा है । कार्ल रोजर में सेल्फ एक्यु अलाइजेशन नामक ग्रंथ में लिखा है कि स्वार्थ और परोपकार यों एक दूसरे के विरोधी सिद्धांत प्रतीत होते हैं, परंतु व्यवहारतः उनमें कहीं भी कोई विरोध नहीं है । जो दूसरों का जितना हित साधन करता है, औरों की भलाई के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करता है, वह उतना ही अपने उच्च स्वार्थ की पूर्ति कर लेता है ।

रूस के प्रसिद्ध चिकित्सा शास्त्री डा० स्तीव शेंकमान ने लिखा है कि सभी प्रकार के कुविचारों से दूर रहना प्रसन्न रहने का सबसे उत्तम उपाय है । उन्होंने निरोग रहने के छह उपाय पुस्तक में लिखे हैं कि अधिक से अधिक प्रसन्न रहने का प्रयत्न कीजिए । यदि आपकी परेशानियाँ इतनी अधिक बढ़ गई हैं और चिंताओं का बोझ बेतहाशा बढ़ गया है कि आप उसे और अधिक सह नहीं सकते तो किसी उपयुक्त व्यक्ति के सामने अपनी परेशानियाँ उड़ेलकर उसकी

सहानुभूति प्राप्त कीजिए तथा प्रसन्न होने का प्रयास कीजिए । किसी को अपना हमराज भी बनाया जा सकता है और वह हमराज कोई भी हो सकता है, आपकी पत्नी, माता, पिता, दोस्त आदि कोई भी । जिसे आप उपयुक्त समझते हैं, उसके सामने अपनी परेशानियाँ जी खोलकर उंड़ेल दीजिए ताकि आप स्वस्थ और प्रसन्न रह सकें ।

प्रसन्न रहना सब रोगों की एक दवा है और प्रसन्न रहने के लिए आवश्यक है, अपना जीवन निष्कलुष बनाया जाए । निष्कलुष, निष्पाप, निर्दोष, पवित्र और हल्का जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति ही सभी परिस्थितियों में प्रसन्न रह सकता है । प्रसन्न मनःस्थिति ही वह नींव है जिस पर शरीर रूपी भवन का निर्माण होता है ।

चिकित्सा हेतु शरीर नहीं मन को टटोलिए

शरीर का एक भाग जिसे विज्ञान की भाषा में मस्तिष्क भी कहा जाता है, शरीर की स्वसंचालित प्रक्रियाओं को संपन्न करता है । रक्त संचार, श्वांस–प्रश्वांस, आकुंचन–प्रकुंचन, निद्रा, स्वेदन, मल विसर्जन आदि क्रियाकलापों पर मन के इसी भाग का नियंत्रण होता है । दूसरे संचेतन भाग द्वारा विभिन्न प्रकार के जीवन व्यवहार संपन्न होते हैं और वह दसों इन्द्रियों के अंग प्रत्यंगों के क्रिया व्यापार का नियमन करती है । इस प्रकार मन को शरीर राज्य का अधिपति कहा जा सकता है ।

समाज व्यवस्था में उत्पन्न होने वाली गड़बड़ियों के लिए भले ही पूरी तरह शासन सत्ता को उत्तरदायी न ठहराया जा सके, क्योंकि समाज में ऐसे तत्वों का अस्तित्व भी रहता है, जो शासन सत्ता को चुनौती देते हैं और उसकी व्यवस्था में रुकावट डालते हैं, पर शरीर के संबंध में ऐसा कुछ नहीं है । उसे निर्विवाद रूप से मन की इच्छा कहना चाहिए । यह ऐसा राज्य है जिस पर मन का एक छत्र और

निर्द्वंद शासन है । इस तथ्य को जानने के बाद यह मानने से इन्कार करने का कोई कारण नहीं है कि मन को असंतुलित करने का अर्थ न केवल शोक संतापों में डूबना और असंतोष्ज्ञ उद्वेग की आग में जलना है वरन् अच्छे भले शरीर को रोगी बना डालना है । विज्ञान भी इस निष्कर्ष पर पहुँचता जा रहा है कि रोगों का कारण शरीर में नहीं मन में है । वहीं से सारे रोग जन्म लेते हैं और शरीर को विभिन्न रूपों में खोखला बनाते हैं ।

अमेरिका के मानसिक रोग विज्ञानी राबर्ट डी. राय ने व्यापक सर्वेक्षण के बाद यह प्रतिपादन किया कि असाध्य समझे जाने वाले अधिकांश रोगों का कारण मनुष्य मन में विद्यमान रहने वाली दुश्चिंताएँ, कुंठाएँ, उलझनें, ग्रन्थियाँ और चिंतन की विकृतियाँ हैं । अरब देश में कुछ शताब्दियों पूर्व एक विख्यात चिकित्सक हुआ है हंकीम इब्नसीना उसने अपनी पुस्तक 'कानून' में ऐसे अनेक अनुभवों का उल्लेख किया है कि अमुक प्रकार के मानसिक उभारों के कारण शरीर में अमुक प्रकार की विकृतियाँ अथवा बीमारियाँ उठ खड़ी होती हैं । चिकित्सा उपचार में इब्नसीना ने दवादारू के स्थान पर रोगी की मनःस्थिति बदलने के उपाय क़िए और असाध्य लगने वाले रोग भी आसानी से अच्छे हो गए ।

जटिल से जटिल रोग तो मानसिक कारणों से उत्पन्न होते ही हैं । साधारण रोगों की जड़ में भी यही मानसिक विकृतियाँ बैठी रहती हैं । कनाडा के एक शरीर शास्त्री और मनोविज्ञानी डा० डानियल कापोन के अनुसार तमाम उपचारों के बाद भी काबू में न आने वाला साधारण सा रोग जुकाम केवल मानसिक कारणों से ही उत्पन्न होता है । शरीर शास्त्रियों के अनुसार जुकाम के भी विषाणु होते हैं, पर उनकी प्रकृति अन्य सजातियों से सर्वथा भिन्न होती है । चेचक, पोलिया आदि रोगों का आक्रमण एक बार होने पर शरीर में उस रोग से लड़ने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है । फलतः इन रोगों के दुबारा आक्रमण का खतरा नहीं रहता, लेकिन जुकाम के बारे में यह बात

लागू नहीं होती वह कई बार आता है और लगातार बना रहता है । जिस दवा से एक बार अच्छा हो जाता है, दुबारा उससे अच्छा नहीं होता । सही बात तो यह है कि दवाओं से ठीक ही नहीं होता । मन बहलाने के लिए चाहे जो दवाएँ ली जाती रहें, लेकिन वास्तव में जुकाम की कोई दवा नहीं होती ।

इसका कारण बताते हुए डा० डानियल कापोन का मत है कि जुकाम इतना शारीरिक रोग नहीं है जितना कि मानसिक । जब मनुष्य थक हार कर निढाल हो जाता है, उसे अपनी असफलताएँ निकट दिखाई देने लगती हैं तो मन उस लांछन से बचने के लिए जुकाम बना लेता है ताकि दूसरे उसकी हार का दोष इस आपत्ति के सिर मढ़ते हुए उसे निर्दोष ठहरा सकें । डा० कापोन का मानना है कि यह रोग वस्तुतः अनामन का अनुदान है जो व्यक्ति को थोड़ा सा शारीरिक कष्ट देकर उसे असफलता के लांछन से बचाता है । ऐसी स्थिति में रोगी बहुत हद तक पराजय की आत्म प्रताड़ना से बच जाता है । जुकाम की दैवी विपत्ति टूट पड़ने से वह हारा या असफल हुआ । इसकी योग्यता, हिम्मत एवं चेष्टा में कहीं कोई कमी नहीं थी । यह मान लेने पर मनुष्य को सांत्वना की हलकी थपकी मिल जाती है । इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए अंतःचेतना जुकाम का ताना बाना बुनती है ।

इस प्रतिपादन की पुष्टि में कापोन ने अनेकों प्रमाण प्रस्तुत किए हैं । उदाहरण के लिए उन्होंने कहा खिलाड़ी लोग प्रतियोगिता के दिनों में, विद्यार्थी परीक्षा के दिनों में, प्रत्याशी चुनाव तिथि पर अक्सर जुकाम से पीड़ित होते हैं, इनमें अधिकांश ऐसे होते हैं जिन्हें अपनी सफलता पर संदेह होता है और हार की कल्पित विभीषिका उनकी मनःचेतना को जुकाम निमंत्रित करने के लिए विवश करती है । हालांकि जुकाम के विषाणु होते हैं । ऐसी बात नहीं है कि वे होते ही नहीं, उनका अस्तित्व होता है, पर शरीर में जिस प्रकार अन्य रोगों को लड़ भगाने की प्रतिरोधी क्षमता होती है, उसी प्रकार जुकाम के

रोगाणुओं को मार काट देने की क्षमता रहती है । दूसरे जुकाम के विषाणु इतने कमजोर होते हैं कि वे अन्य रोगों के समान मनुष्य के लिए कष्टकारक नहीं होते । चूहे, बंदर आदि के शरीर में जुकाम के विषाणु प्रविष्ट कराए गए किंतु उनके शरीर पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा ।

यह मानना भी गलत है कि सर्दी के कारण जुकाम होता है । ध्रुव प्रदेशों में कड़ाके की ठिठुरा और जमा देने वाली शीत पड़ती है । फिर भी यहाँ निवास करने वाले एस्कीमो लोग अपनी सारी उमर उसी शीत में गुजार लेते हैं, पर उन्हें कभी जुकाम नहीं होता । उस क्षेत्र में अन्वेषण के लिए जाने वाले खोजी दलों का भी यह कथन है कि जब तक वे ध्रुव प्रदेश में रहे तब तक उन्हें जुकाम नहीं हुआ । इस विषय में किए गए शोध अन्वेषणों का निष्कर्ष यह है कि जुकाम का प्रकोप शीत ऋतु की अपेक्षा गर्मी के दिनों में अधिक होता है । इस सामान्य से रोग का उपचार करने के लिए कितनी ही औषधियाँ, चिकित्सा फार्मूले खोजे गए, पर वे सभी असफल रहे । इसका मात्र एक ही कारण है कि जुकाम दीखने भर में शारीरिक रोग लगता है, पर वस्तुतः यह है—मनोरोग ।

पिछले दिनों जर्मन पत्रिका ''मेडिजिनेश क्लीनिक'' में एक लेख प्रकाशित हुआ, उसमें कई चिकित्सा विज्ञानियों के अनुभव साररूप में छपे थे । लेख में कहा गया था कि शरीर के विभिन्न अंगों में होने वाली पीड़ा, वेदना आदि के लिए जितने कारण शरीर में विद्यमान होते हैं, उससे कहीं अधिक मानसिक कारण इसके लिए उत्तरदायी होते हैं ।

इस लेख में मनःस्थिति के शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों का विवरण भी था । ऐसे कई प्रयोगों का उल्लेख इस प्रतिपादन की पुष्टि में किया गया था जिनसे सिद्ध होता था कि शरीर मन मस्तिष्क का एकनिष्ठ आज्ञानुवर्ती सेवक है और उसे जैसे निर्देश मिलते हैं, वह उनका अक्षरशः पालन करता है । डा० जूलियस ने अपने कुछ

प्रयोगों का विवरण लिखते हुए कहा है, 'एक बार मैंने केवल डिस्टिल वाटर की सुई लगाकर रोगी को यह बताया कि उसे गहरी नींद की दवा दी गई है । वह कई दिनों से अस्पताल में ठीक नींद नहीं ले पा रहा था । सुई लगाने के दस पंद्रह मिनट बाद जब मैं उधर से निकला तो मैंने देखा कि वह गहरी नींद ले रहा है । एक दूसरे रोगी को जिसे भी यही शिकायत थी नींद लाने वाली तेज औषधि दी गई और कहा इससे थोड़ी नींद आ जाएगी और तुम्हारा दर्द भी हलका पड़ जाएगा । यह संदेह पैदा करने के बाद रोगी को नींद नहीं आई और वह पूर्ववत् दर्द की शिकायत करता रहा ।''

इस प्रयोग के बाद उन्हीं दवाओं के विपरीत निर्देश देकर, उनके दूसरे परिणाम बता कर दिया गया तो देखने में आया कि पहले से सर्वथा भिन्न प्रतिक्रिया हुई है । पहले दिन पानी का इंजेक्शन साधारण दवा बता कर लगाया गया तो उससे न दर्द कम हुआ और न ही रोगी को नींद आई । इसके साथ ही दूसरे रोगी को नींद लाने का आश्वासन दिया गया तो उसे गहरी नींद आई । इन प्रयोगों के आधार पर डाक्टर जूलियस ने यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया कि दवाएँ जितना परिणाम उत्पन्न करती है उनसे कहीं अधिक प्रभाव उनके संबंध में मान्यताओं का होता है ।

इसके साथ ही यह भी एक तथ्य है कि एक ही तरह के दर्द को भिन्न भिन्न मनःस्थिति के लोग अलग अलग तरह से अनुभव करते हैं । डरपोक किस्म के रोगी किसी प्रकार के दर्द के कारण बुरी तरह चीखते–चिल्लाते हैं । मध्यम मनःस्थिति वाले मात्र हलके हलके कराहते रहते हैं, लेकिन साहसी लोग उसी कष्ट को बहुत हल्का मानते हैं । युद्ध के मोर्चे पर घायल होने वाले सिपाही अपनी बहादुरी की मान्यता के आवेश में कम कष्ट अनुभव करते हैं, जबकि उतने ही घाव लगने पर अन्य कई गुना अधिक कष्ट अनुभव करते हैं ।

भावनात्मक तनाव भी कई बार दर्द में परिणत हो जाता है ।

सिर दर्द, पेट का दर्द, जोड़ों का दर्द, छाती का दर्द, कमर का दर्द आदि दर्दों के लिए शारीरिक कारणों से अधिक मनोवैज्ञानिक कारण उत्तरदायी होते हैं । इनके मूल में कोई चिंता, कोई आशंका, कोई भय, भावी अशुभ की आशंका अथवा भूतकाल की कोई दुखद स्मृति काम करती है । मन की यह अवस्था शरीर के किन्हीं भी अंगों पर आच्छादित होकर उन्हें पीड़ा का अनुभव कराती है ।

कई बार ऐसी स्थिति भी देखी गई है कि डाक्टर अपने समस्त निदान परीक्षण करने के उपरांत भी रोगी में अस्वस्थता का कोई कारण नहीं जान पाता या कोई कारण का पता नहीं चलता, किंतु रोगी अपने को बराबर रोग से पीड़ित अनुभव करता है, कष्ट उठाता है, दिनों दिन दुबला होता जाता है और साधारण काम काज करने में समर्थ नहीं रहता । यद्यपि रोग का कोई कारण पकड़ में नहीं आता फिर भी उसका कष्ट स्पष्ट दीख पड़ता है । यह कहा जाए कि रोगी ढोंग कर रहा है तो उसका भी कोई कारण समझ में नहीं आता, क्योंकि उस रुग्णता का पूरा भार रोगी को उठाना पड़ता है । इस प्रकार के विचित्र रोगों की जड़ खोज लेने में अब मनोविज्ञान सफल होता जा रहा है ।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में हुई नवीनतम खोजों के अनुसार इस प्रकार के विचित्र और न पकड़ में आने वाले रोगों का कारण मानसिक होता है । कोई पुरानी कटु अनुभूति मस्तिष्क के किसी भाग पर आक्रमण करती है और वहाँ के संतुलन को गड़बड़ा देती है । चूँकि मस्तिष्क की प्रत्येक कोशिका आपस में एक दूसरे के साथ जुड़ी रहती है और आपस में कई प्रकार के आदान प्रदान का क्रम चलता है । इसी प्रक्रिया के अंतर्गत लगे हुए आघात संबंधित केन्द्र तक ही सीमित न रहकर शरीर के अन्य अंग अवयवों को भी प्रभावित करते हैं और वे अंग भी रुग्णता अनुभव करने लगते हैं । शारीरिक दृष्टि से वह अंग निरोग रहता है, किंतु मस्तिष्क का विद्युत प्रवाह उस स्थान तक ठीक तरह से नहीं पहुँच पाता क्योंकि वे

संवेदना अनुभव करने लगते हैं । शारीरिक दृष्टि से वह अंग निरोग रहता है, किंतु मस्तिष्क का विद्युत प्रवाह उस स्थान तक ठीक तरह से नहीं पहुँच पाता क्योंकि संवेदना अनुभव करने वाले कोश रुग्णावस्था में पड़े रहते हैं । यह गड़बड़ी संबंधित अंग तक पूरी खुराक और निर्देश नहीं पहुँचने देती । इस विचित्र स्थिति के कारण ही मस्तिष्क के संवेदना केन्द्र अमुक रोग जैसा अनुभव करते है । जबकि वास्तव में ऐसा होता नहीं । इस तरह के रोग न होने पर भी रोगी वस्तुतः कष्ट का वैसा ही अनुभव करता है जैसा कि वह अनुभव करता है, लेकिन डाक्टर के सामने भी यह समस्या रहती है कि वह क्या करे और क्या न करे ? इस तरह की मानसिक गुत्थियों और उलझनों की उसे जानकारी नहीं होती । इसलिए ऐसे रोगियों को मनश्चिकित्सक के पास जाने की सलाह देकर वह पिंड छुड़ा लेता है ।

मानसिक कारणों से इस तरह के रोग कैसे प्रकट होते हैं इस प्रश्न का निश्चित उत्तर डाक्टरों के पास नहीं है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की अलग अलग मनोभूमि होती है । उसके मनःसंस्थान की अलग अलग संरचना होती है । इसलिए सबके संबंध में एक जैसा विवेचन लागू नहीं होता । कई व्यक्ति आए दिन अपमान सहते हैं और उसके इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उन पर अपमान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । कई व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो साधारण सी बात को बहुत अधिक महत्व देकर तड़प उठते हैं । क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी मनःस्थिति के अनुसार एक ही घटना का अलग अलग विवेचन करता है । कौन किस घटना पर कैसी प्रतिक्रिया अनुभव करेगा, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । मानसिक और कानूनी मापदण्ड निश्चित रहते हैं कि इस तरह का आचरण असामाजिक या आध्यात्मिक कहा जाएगा । किस को कौन सा व्यवहार कितना अप्रिय लगता है, इसका निश्चित मूल्यांकन करने के लिए कोई मापदण्ड नहीं है ।

कितने ही व्यक्तियों के सामने हत्या, मारकाट और उत्पीड़न के दृश्य आते रहते हैं । उन पर इनका कोई विशेष प्रभाव नहीं होता, किंतु अनभ्यस्त और भावुक व्यक्ति पर उन्हीं घटनाओं का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह किसी भयंकर अवसाद में डूब जाता है अथवा विक्षिप्त हो उठता है । अपमान, असफलता, हानि, विछोह जैसी अप्रिय घटनाएँ भी मनुष्य जीवन में घटती रहती हैं । इनकी संभावनाओं को न निर्मूल किया जा सकता है और न ही इनसे इंकार किया जा सकता है । जब सम्मान, सफलता, लाभ मिलने जैसे प्रसन्नतादायक प्रसंग जीवन में आते रहते हैं तो उससे भिन्न प्रकार की घटनाओं के घटित न होने का कोई कारण नहीं हो सकता । रात और दिन की तरह जीवन की रचना भी प्रिय और अप्रिय प्रसंगों से मिलकर हुई है । सदा एक जैसी स्थिति बने रहना किसी के लिए भी संभव नहीं है ।

धनवान, बलवान, विद्वान व्यक्तियों को भी प्रियजनों के विछोह, इच्छापूर्ति में व्याधा और असफलता, शारीरिक रुग्णता तथा छल कपट जैसा व्यवहार दुख का कारण बन सकता है । इन सबसे ज्यादा मानसिक संतुलन को गड़बड़ा देने वाला कारण है अपने ही रचे हुए कल्पना लोक में अवांछनीय चिंतन का चल पड़ना । आशंकाएँ प्रायः इसी स्तर की होती हैं । दूसरे व्यक्तियों का व्यवहार, परिस्थितियों का प्रवाह निकट भविष्य में हमारे प्रतिकूल चलेगा और उससे भयंकर विपत्ति आएगी, ऐसा चिंतन कितने ही व्यक्ति करते और उद्विग्न रहते हैं । जबकि वैसा व्यवहार या घटना क्रम कदाचित ही सामने आते हैं ।

मानसिक संतुलन विपरीत परिस्थितियों के वास्तविक एवं काल्पनिक घटनाओं के सहारे ही चलते हैं । यह व्यक्ति की भावुकता या संवेदनशीलता पर निर्भर करता है कि वह उन्हें मजाक में टाल देता है, साहस समेटकर उससे निपटने का फैसला करता है या भयभीत होकर अपना संतुलन खो बैठता है । यदि व्यक्ति डरपोक प्रकृति का और अति भावुक है तो इसके लिए छोटी घटना भी बहुत

बड़ी हो सकती है और नन्हीं सी अशुभ कल्पना से भी तिलमिला कर उद्विग्न हो सकता है । इस प्रकार परिस्थितियों के आघात सर्वप्रथम और संपूर्ण रूप से मानसिक संस्थान को प्रभावित करते हैं । ज्वर, सिर दर्द आदि की स्थिति में शरीर असहाय बन जाता है, उससे कुछ नहीं बनता, बेचैनी सताती है । मानसिक संतुलन इससे भी बुरी स्थिति पैदा कर देता है । क्योंकि शरीर पूरी तरह मन के नियंत्रण में चलता है । रक्त माँस से नहीं मन के निर्देशों से शरीर की गाड़ी चलती है ।

यही कारण है कि मन के विकृत होने पर शरीर का स्वस्थ बने रहना असंभव हो जाता है । इस प्रकार का स्वास्थ्य संकट अमुक घटना या अमुक परिस्थिति के कारण उत्पन्न होगा, इसका सब पर लागू होने वाला कोई सिद्धांत नहीं । कहा जा चुका है कि एक घटना की अनेक व्यक्तियों पर परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं । विरोधी न हों तो भी निश्चित ही हैं कि सब पर अलग–अलग तरह की कम ज्यादा और भिन्न भिन्न प्रतिक्रियाएँ होती हैं । घटनाओं को रोका नहीं जा सकता । इसलिए स्वस्थ रहने का एक मात्र यही तरीका है कि सोचने समझने का सही तरीका अपनाया जाए, परिस्थितियों से तालमेल बिठाने की कला सीखी जाए, अपनी चिंतनात्मक दुर्बलता के कारण उत्पन्न होने वाली ऐसी स्थितियों से बचा जाए जो व्यक्ति के जीवनक्रम को अस्त–व्यस्त और तहस–नहस कर देती हैं ।

किन्हीं अप्रिय अथवा अवांछनीय घटनाओं से शारीरिक मानसिक स्थितियों में हलकी सी उद्विग्नता चढ़ आती है । यह उद्विग्नता, व्यक्ति की अपनी मनःस्थिति के अनुसार कम ज्यादा हो सकती है । इस स्थिति को अपनी खीझ, परेशानी, तनाव कुछ भी कहा जा सकता है । कमजोर मनःस्थिति वाले व्यक्ति साधारण सी बातों को लेकर इतने परेशान हो उठते हैं कि उनके मन पर कई समस्याएँ एक साथ चढ़ जाती हैं और सभी जल्दी जल्दी अपने संबंध में विचार किए जाने की

माँग करती हैं । इस धमाचौकड़ी में अधूरी एकांगी उथली समझ ही काम करती है और उससे कोई निष्कर्ष निकलना तो दूर रहा उलटे सिर चकराने लगता है । प्रतीत होता है कि मानो उलझनों के घटाटोप चढ़ आए हैं । इन विचारों के हुड़दंग को रोकना चाहिए और एक समय में एक ही विचार को अपना कर बारी बारी शांत चित्त से प्रस्तुत समस्याओं पर विचार करना चाहिए । इस तरह आसानी से चित्त का बोझ हलका किया जा सकता है ।

रोगों की जड़ शरीर में नहीं मन में होती है, यह मान कर अपने मानसिक संतुलन को सुस्थिर रखा जाए तो कोई शारीरिक रोग होने पर भी वह जीवन क्रम सामान्य ढंग से चलाया जा सकता है । मानसिक संतुलन साधने के लिए यह मान्यता बड़ी ही उपयोगी सिद्ध हो सकती है । यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि उस तथ्य को सभी रोगों में एक समान लागू होते देखा जा सकता है । उनकी प्रतिक्रिया के लक्षण शरीर पर भले ही दिखाई दें, लेकिन उनकी जड़ मनुष्य के मन में होती है । वृक्ष की जड़ जिस प्रकार जमीन के भीतर होती है और उसका तना, शाखाएँ, पत्ते, फूल, फल और शिखर आकाश में होती हैं । इसी प्रकार रोगों का स्वरूप, उत्पात, प्रतिक्रिया शरीर के तल पर दिखाई देते हैं, लेकिन उन का मूल मन में होता है । इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए महर्षियों ने हजारों वर्ष पूर्व कहा है ' 'प्रज्ञापराधी रोगस्य मूल कारणम्'' अर्थात् प्रज्ञापराध, मानसिक अस्तव्यस्त असंतुलित मनःस्थिति, चिंता, क्षोभ और अन्यान्य मानसिक विकृतियाँ समस्त रोगों का मूल कारण है । यदि अपनी मानसिक स्थिति को सम्हाला जाए, उसे शांत संतुलित बनाया जाए तो शरीर को पूर्ण स्वस्थ निरोग और पुष्ट रखा जा सकता है । शरीर का निदान परीक्षण बाद में, पहले मन को ही स्वस्थ बनाए रखने की बात सोचनी चाहिए । इसके लिए प्रचलित चिकित्सा पद्धतियों से परे मन को हल्का फुल्का बनाने वाली किसी भी विधि का सहारा लिया जा सकता है । संगीत का स्थान इनमें सर्वोपरि है । ऐलोपैथी, नैचरोपैथी,

होम्योपैथी, बायोकेमिक चिकित्सा पद्धति आदि चिकित्सा प्रणालियों की तरह पश्चिमी देशों में संगीत से भी रोगों के उपचार की विधि खोज ली गई है और उसका सफलतापूर्वक उपयोग किया जाने लगा है । पश्चिमी जर्मनी के कुछ अस्पतालों में इस चिकित्सा पद्धति का सफलतापूर्वक उपयोग किया जाने लगा है । वहाँ के एक मानसिक चिकित्सालय में जो बर्लिन में स्थित है में दो असाध्य मानसिक रोगी लड़कियों का संगीत से पहली बार १९६२ में इलाज किया गया । ये दोनों लड़कियाँ जुड़वाँ बहनें थीं और दोनों ही जटिल रोगों से ग्रस्त थीं ।

डाक्टर उन पर सभी चिकित्सा प्रयोगों को आजमा चुके थे । दोनों ही शारीरिक रोगों के अतिरिक्त मानसिक रोगों से भी ग्रस्त थीं । कहना चाहिए उनके रोग शारीरिक कम मानसिक अधिक थे । किसी भी प्रकार के रोग में जब कोई फायदा नहीं हुआ तो एक लड़की पर डा० कुर्त्त ने सर्वथा नया प्रयोग किया । उस लड़की को एक ऐसे ग्रुप में शामिल किया जिसमें रहने वाले सभी रोगी असाध्य मान लिए गए थे और काफी शोरगुल करते थे । वह लड़की भी इस ग्रुप में शामिल हो गई । ग्रुप के सभी मरीज काफी शोरगुल करते थे । इस लड़की को शोरगुल पसंद नहीं आया और वह अस्पताल में पड़ा हुआ ड्रम बजाने लगी । जब भी रोगी चीखते, शोरगुल करते तभी वह लड़की ड्रम बजाने लगती ।

डा० कुर्त्त का लड़की की हरकत पर ध्यान गया और उन्होंने रोगिणी लड़की को कुछ ठप्पे दिए । अब उसने ड्रम बजाना छोड़ दिया और उन लकड़ी के ठप्पों को ही धीरे धीरे किसी वाद्य यंत्र की तरह बजाती । इससे डाक्टर को संगीत द्वारा उसका उपचार करने की सूझी तथा कुछ ही समय बाद उसे वाद्ययंत्र खेलने के लिए दिए जाने लगे । धीरे धीरे वह वाद्ययंत्रों को बजाने लगी । उसका आत्म विश्वास लौटने लगा था । शीघ्र ही उसमें इतना आत्मविश्वास पैदा हो गया कि वह उन ध्वनियों का संगीत के माध्यम से उत्तर देने लगी ।

इस प्रगति से डा० कुर्त्त को संतोष हुआ और उसका उत्साह भी बढ़ा । उन्होंने निश्चित किया कि संगीत द्वारा ही रोग मुक्त करने का प्रयास किया जाए । यह प्रयास प्रयोग के तौर पर ही किए गए थे, पर उसमें आश्चर्यजनक सफलता मिली । धीरे धीरे लड़की की बीमारी दूर होती गई और वह अपनी परिधि से निकल कर स्वस्थ लोगों के संपर्क में आती गई । संगीत द्वारा मनोरोगों के उपचार का बर्लिन में यह पहला प्रयोग था । अन्य देशों में तो इससे पूर्व भी संगीत द्वारा मनोरोगों की चिकित्सा के सफल प्रयोग किए जा चुके थे, लेकिन ये प्रयोग सामान्य रोगियों पर ही किए गए थे । जटिल तथा असाध्य समझे जाने वाले मानसिक रोगों के उपचार का यह पहला प्रयोग था ।

अब तो संगीत को मानसिक रोगों से मुक्ति दिलाने वाली अचूक औषधि माना जाने लगा है । पश्चिमी देशों में संगीत चिकित्सा दिनों दिन लोकप्रिय होती जा रही है । इस चिकित्सा पद्धति के अंतर्गत रोगियों को एक दूसरे के साजों से निकलने वाली ध्वनियों का उत्तर धुनों के माध्यम से ही देने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है । पागल और विक्षिप्त समझे जाने वाले व्यक्तियों की मस्तिष्कीय क्षमता पहले ही प्रयास में इस योग्य तो नहीं बन पाती कि वे बताई गई विधि का अक्षरशः पालन कर लें, लेकिन धीरे धीरे वे एक दूसरे केसाजों से निकलने वाली धुनों को पहचानने लगते हैं तथा उन धुनों द्वारा ही उत्तर देने लगते हैं । धुनों के माध्यम से उत्तर देने का यह क्रम धीरे धीरे शब्दों तक भी पहुँच जाता है और परिणामतः रोगी के रोगमुक्त होने में दिनों दिन सफलता प्राप्त होने लगती है ।

बर्लिन में ही संपन्न हुई 'अंतर्राष्ट्रीय संगीत चिकित्सा परिषद्'' में कहा गया है कि जिन व्यक्तियों को विक्षिप्त मान लिया जाता है और पागल समझ कर समाज से अलग कर दिया जाता है ऐसे व्यक्ति का दिमाग वास्तव में बेकार नहीं हो जाता है । वस्तुतः लोग भावनाओं पर अत्यधिक चोट लगने के कारण मस्तिष्कीय संतुलन खो बैठते हैं ।

कभी कभी यह असर इतना गहरा हो जाता है कि वह व्यक्ति समाज की धारा से पूरी तरह कट कर अपने आप में सिमट जाता है ।

संगीत में भावनाओं को जाग्रत करने और संबल देने की ही नहीं उनको परिष्कृत बनाने तथा उनका संतुलन साधने की प्रभावशाली क्षमता है । शरीर शास्त्रियों की मान्यता है कि मस्तिष्क के कुछ भाग भावनाओं को उत्तेजित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । संगीत का उन अंगों पर बहुत अच्छा और अनुकूल प्रभाव पड़ता है । संगीत द्वारा मस्तिष्क की उन सिकुड़ी हुई माँसपेशियों को शक्ति मिलती है फलतः व्यक्ति को भावनात्मक बल और आनंद मिलता है । वे पेशियाँ जो कारणवश निष्क्रिय हो जाती हैं पुनः सक्रिय हो उठती है । संगीत की स्वर लहरियों से तनाव हल्का होने की बात तो आम है । लोग संगीत का यह प्रयोग तो आमतौर पर करते हैं । इसी नियम को एक विधि व्यवस्था के साथ रोग चिकित्सा के लिए अपनाया जाता है, अब तो जटिल से जटिल रोगों का उपचार भी संगीत द्वारा किए जाने की विधियाँ खोज ली गई हैं ।

वाद्ययंत्रों के माध्यम से रोगोपचार की यह पद्धति तो कुछ वर्षों पूर्व ही आविष्कृत की गई है । अब चिकित्सा शास्त्रियों का ध्यान इस दिशा में भी गया है कि वाद्ययंत्रों के अलावा गायन का शरीर व स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है । बाहरी उपकरण इतना प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं तो स्वयं अपनी वाणी, शब्द और स्वर तो और अधिक प्रभाव उत्पन्न करते होंगे । इस विषय पर चिकित्सा शास्त्रियों का ध्यान भले ही अभी गया हो, परंतु यह तो पिछले काफी समय से जान समझ लिया गया है कि प्रेरणा गीतों का स्वर उच्चारण मनुष्य को न केवल हल्का फुल्का व प्रफुल्लित कर देता है वरन् उसकी कई चिंताओं, दबाव, तनावों तथा समस्याओं के बोझ को भी बड़ी सीमा तक समाप्त कर देता है ।

भारतीय मनीषियों ने संगीत की इस शक्ति को हजारों वर्ष पूर्व पहचान कर उसका उच्च उद्देश्यों के लिए प्रयोग करना आरंभ कर

दिया था । मंत्र साधना का अपना एक स्वतंत्र विज्ञान तो है ही, पर उसमें लय और गति का तालमेल बहुत कुछ संगीत की इस जीवनदात्री क्षमता के प्रयोग का उदाहरण है । कोई आश्चर्य नहीं कि संगीत का स्वास्थ्य प्रयोजन के लिए उपयोग करते–करते विज्ञान इस तथ्य को भी बहुत जल्दी स्वीकार करने की स्थिति में आ जाए ।

न निराश हों, न उत्तेजित

"किसी भी इमारत की सबसे ऊपरी मंजिल की छत पर चढ़कर तुम अगर नीचे झाँकते हो तो डरने क्यों लगते हो ?" ब्रिटेन के प्रसिद्ध मनःशास्त्री डा० स्टेनले ने अपने छात्रों से प्रश्न किया । छात्रों ने इसके अलग–अलग उत्तर दिए, किंतु उसमें से एक भी उत्तर सही नहीं था । बाद में स्वयं डा० स्टेनले ने अपने ही प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा–'क्योंकि उस समय तुम्हें भय होने लगता है कि कहीं मैं यहाँ से गिर न जाऊँ ? किसी भी व्यक्ति के दिमाग में बहुत ऊँचे स्थान पर चढ़कर नीचे झाँकने से यह विचार आ सकता है कि यदि मैं यहाँ से कूद जाऊँगा, गिर जाऊँगा तो क्या होगा ? यह विचार अकारण नहीं, बल्कि मनुष्य का अपना अवचेतन मन ही उसे कूद पड़ने व गिर जाने के लिए प्रेरित करता है ।'

डा० स्टेनले का यह प्रतिपादन विवाद का विषय हो सकता है, पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि अधिकांश लोग अपने जीवन को निस्सार व्यर्थ और निरर्थक अनुभव करते हैं । यही कारण है कि सामान्य रोग, बीमारियों के समय, थोड़ी सी प्रतिकूल परिस्थितियाँ आने पर व्यक्ति मर जाने अथवा जीवन का अंत हो जाने की कामना करने लगता है । एक मनोवैज्ञानिक के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में एक से अधिक बार आत्महत्या कर लेने की बात सोचता है । यह बात अलग है कि वह अपने जीवन का अंत कर लेने का साहस नहीं जुटा पाता ।

फिर भी कई दुस्साहसी व्यक्ति परीक्षा में असफलता, नौकरी

छूट जाने या उन्नति न होने, परिवार में कलह होने, मुकदमेबाजी में हार जाने के छोटे–छोटे कारणों से आत्महत्या कर लेते हैं । इन कारणों से आत्महत्या करने वालों की संख्या दिनों दिन बढ़ती जा रही है । विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक रिपोर्ट के अनुसार १२ हजार व्यक्ति आत्महत्या का प्रयास करते हैं अर्थात् एक मिनट में लगभग ९ व्यक्ति आत्महत्या की चेष्टा करते हैं । इन नौ व्यक्तियों में से आठ व्यक्ति या तो बचा लिए जाते हैं अथवा मृत्यु की यंत्रणा न सह पाने के कारण स्वयं ही सहायता के लिए पुकारने लगते हैं और किसी न किसी प्रकार बच जाते हैं । नौ में से एक व्यक्ति प्रति मिनट आत्महत्या करता है ।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार आत्महत्या करने वालों की संख्या पिछले बीस वर्षों में तीन गुना बढ़ी है । प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि लोग आत्महत्या क्यों करते हैं ? मनोवैज्ञानिक इस प्रश्न के अलग अलग उत्तर देते हैं । कुछ लोगों का कहना है कि व्यक्ति अपने चारों ओर भरे निराशपूर्ण वातावरण से इतना घबड़ा उठता है कि उसे इसके अलावा कोई चारा ही नहीं सूझता । कुछ मनोविश्लेषण कर्ताओं के अनुसार जो व्यक्ति हिंसक प्रवृत्ति के होते हैं और वे इसे व्यक्त नहीं कर पाते वे इस प्रवृत्ति से स्वयं को ही नष्ट कर लेते हैं । इसके समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि युद्ध के दिनों में आत्महत्या की घटनाएँ कम होती हैं, क्योंकि उस समय लोगों की हिंसा वृत्ति युद्ध में होने वाले नर संहार में तृप्त हो लेती है ।

कुछ लोग अपने आपको इतना अकेला और असहाय अनुभव करते हैं कि उन्हें जीवन जीने में कोई लाभ नहीं दिखाई देता और वे सोचने लगते हैं कि क्यों न आत्महत्या कर ली जाए । जीने में क्या रखा है ? कोई व्यक्ति आत्महत्या का विचार भावनात्मक उत्तेजना में आकर करने लगते हैं और उस उत्तेजना की स्थिति में कार्यक्रम भी बना लेते हैं । इस संदर्भ में न्यूयार्क की एक घटना का प्रायः उल्लेख किया जाता है, जिसमें एक युवक ने २०० फुट ऊँचे पुल से पानी में

छलांग लगा ली थी । संयोगवश उधर से बचाव के लिए पुलिस की नाव भी आ गई । नाव में सवार पुलिस वालों ने उस युवक को बाहर निकलने के लिए कहा और पकड़ भी लिया ! इस पर युवक छटपटाने लगा मुझे अकेला छोड़ दो, मैं मरना चाहता हूँ, मुझे मर जाने दो । इस पर पुलिस वालों ने कहा–''ठीक है, हम तुम्हारी इच्छा पूरी किए देते हैं । यह कहकर उन्होंने युवक को निशाना बनाकर बंदूक तान दी तो उसका मरने का उत्साह न जाने कहाँ काफूर हो गया ।

मनोविश्लेषण आत्महत्या का प्रमुख कारण अवसाद बताते हैं, जो किसी भी कारण से उत्पन्न हो सकता है । चाहे वह शारीरिक रोग के कारण उत्पन्न हुआ हो अथवा परीक्षा, प्रेम या प्रतियोगिता में असफलता के कारण । एक लड़का जिसकी माँ मर चुकी थी, आत्महत्या करने के लिए ढेर सारी गोलियाँ खा गया । यह बात किसी तरह घर के अन्य लोगों को पता चल गई और उन्होंने उसे दिल्ली के अस्पताल में भर्ती कर दिया । उपचार के बाद जब वह ठीक हो गया तो उसने बताया कि इस प्रकार वह अपनी मृतक माँ से मिलना चाहता था ।

कुछ मनःशास्त्री आत्महत्या के पीछे प्रतिशोध की भावना भी देखते हैं । उनके मतानुसार परिवार का कोई सदस्य अपने परिवार के अन्य सदस्यों को सबक सिखाने के लिए भी आत्महत्या कर लेता है । उस समय आत्मघात करने वाला यही सोचता है कि इससे इन लोगों को काफी परेशानियाँ उठानी पड़ेंगी और उन्हें यह पता चल जाएगा कि मैं कितना अच्छा था ? कई व्यक्ति अपराध भावना से दबे रहने के कारण भी आत्महत्या कर लेते हैं, क्योंकि उन्हें इसके अलावा अपराध बोझ से मुक्त होने का कोई दूसरा अच्छा उपाय ही नहीं सूझता । दूसरे कई लोग वृद्धावस्था, जीवन साथी की उपेक्षा, बेरोजगारी, मुकदमेबाजी जैसे कारणों से तंग आकर आत्महत्या करते हैं ।

कुल मिलाकर आत्महत्या का कारण जीवन की व्यर्थता अनुभव होती है और यह सच है कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन में एक नहीं, अनेक बार अपने जीवन को व्यर्थ तथा कई बार तो भार स्वरूप समझने लगता है । उस भार से छुटकारा पाने के लिए ही वे आत्म हनन की बात सोचते हैं । प्रश्न उठता है कि जीवन क्या सचमुच इतना व्यर्थ है कि छोटी छोटी बातों से निराश होकर उसका अंत करने की बात सोची जाए ? गंभीरतापूर्वक आत्म विश्लेषण किया जाए तो प्रतीत होगा कि प्रत्येक व्यक्ति कई बार अपने जीवन को व्यर्थ और भार रूप अनुभव करता है । कारण कुछ भी हो सकता है, पर जीवन की व्यर्थता इतनी तीव्रता के साथ अनुभव होती है कि उसे रहने न रहने देने से कोई अंतर प्रतीक नहीं होता, बल्कि भला इसी में दीखता है कि ऐसे निरर्थक जीवन को फटे कपड़ों की तरह फेंक दिया जाए, कूड़े कचरे की तरह नष्ट कर दिया जाए ।

जाने अनजाने प्रत्येक व्यक्ति के मन में अपने जीवन के प्रति निराशा, हताशा और निरर्थकता की भावना भरी रहती है और समय समय पर विभिन्न रूपों में व्यक्त भी होती रहती है । कभी असफलताजन्य खिन्नता के रूप में तो कभी थकान के कारण उत्पन्न हुए तनाव के रूप में, कभी अधिक परिश्रम के कारण खीझ के रूप में तो कभी किसी के व्यवहार से क्षुब्ध होने के रूप में । इस तरह के जितने भी निषेधात्मक भाव हैं, वे सब निरर्थकता बोध की प्रच्छन्न अभिव्यवक्तियाँ हैं अन्यथा जीवन है–एक पुष्प की भाँति, जो अपने चटखने से लेकर धरती पर गिरने तक निरंतर खिला ही रहता है और अपनी सुगंधित सुवास चतुर्दिक बिखेरता रहता है । जीवन है–एक सरिता की भाँति, जो अपने स्रोत से लेकर सागर तक निरंतर बहती ही रहती है । कहीं न रुकती है और न सड़ांघ फैलाती है । यदि जीवन व्यर्थ अनुभव होता है तो इसका अर्थ है–उसे खिलने नहीं दिया गया, खिलने से पहले ही तोड़ दिया गया और न उसमें प्रवाह ही आने दिया गया ।

फूल खिलेगा नहीं तो धरती पर गिरेगा भी नहीं, यह निश्चित है । नदी बहेगी नहीं तो सागर तक नहीं ही पहुँचेगी, यह भी निश्चित है और साथ ही यह भी सच है कि वह नदी न रहकर झील बन जाएगी । इस दृष्टि से डा० स्टेनले की यह व्याख्या शत प्रतिशत सही सिद्ध हो सकती है कि ऊँचाई पर चढ़ने के बाद कोई व्यक्ति नीचे झाँकता है तो उसके मन में केवल इसीलिए भय उत्पन्न होने लगता है कि कहीं मैं आत्महत्या न कर लूँ ? कहीं नीचे न कूद पड़ूँ ? स्पष्ट ही यह भय इस कारण अनुभव होता है कि उसके अवचेतन में भरा हुआ जीवन के प्रति व्यर्थता का बोध उसे नीचे कूद पड़ने के लिए प्रेरित करता है या अन्य इतनी ऊँचाई पर से कौन नीचे धकेलना चाहता होगा ।

माना कि भय ऊँचाई पर उपस्थित अन्य लोगों की उपस्थिति से उत्पन्न होता होगा या हवा के झोकों से गिर जाने का डर पैदा होता होगा, किंतु देखा यह गया है कि भीड़ की अपेक्षा अकेले होने पर यह भय और तीव्रता के साथ व्यापता है । हवा शांत हो, वातावरण निस्पंद हो तब तो और अधिक स्पष्ट अनुभव होता है कि कोई नीचे कूद पड़ने के लिए प्रेरित करता है । भीड़ होने पर तो फिर भी सुरक्षा का भाव रहता है, नीचे गिरने से कोई भी बचा लेना, किंतु एकांत में व्यक्ति नितांत असुरक्षित और असहाय अनुभव करता है । क्यों ? इसलिए कि उस समय सुरक्षा का ऐसा कोई आश्वासन कहीं से मिलता दिखाई नहीं देता ।

जीवन व्यर्थ होने का भाव आत्म हनन की प्रेरणा देता है, यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि मनुष्य केवल उपयोगी और सार्थक वस्तुओं को ही अपने पास रखना चाहता है । व्यर्थ का कूड़ा-कर्कट जमा करने में जिनकी कोई उपयोगिता नहीं, किसी की भी रुचि नहीं होती । इसलिए जीवन भी व्यर्थ अनुभव हो रहा है तो उसे बचाने की अपेक्षा नष्ट कर देने में ही मनुष्य की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है । कहीं कोई सूत्र होते हैं, जो मोह और आसक्ति के कारण उसे बचाए

रखने का असंतुलन साधते हैं और जब कभी ये सूत्र टूट जाते हैं तो आत्म हनन की स्पष्ट इच्छा होने लगती है । यह इच्छा भी तभी पूरी हो पाती है, जब वैसा करने का साहस जुटाया जा सके अन्यथा व्यक्ति केवल कामना करके ही रह जाता है ।

इस व्यर्थता के बोध से ही अधिकांश व्यक्ति खिन्न, दुखी, उद्यत, ग्लानि और उद्विग्न हुए देखे जाते हैं अन्यथा ऐसा कोई बाहरी कारण नहीं, जिससे दुखी हुआ जाए । प्रश्न उठता है कि व्यर्थता के इस बोध से कैसे छुटकारा पाया जाए ? और किस प्रकार जीवन को सार्थक बनाया जाए ? उत्तर स्पष्ट है । अब तक जिन बातों में जीवन की सार्थकता खोजी गई है, वे व्यर्थ और दिक्भ्रांत ही सिद्ध हुई हैं । किन्हीं ने धन में जीवन को सार्थकता खोजी, किंतु धनवान व्यक्ति भी आत्महत्या करते देखे गए हैं । यश, ख्याति और प्रसिद्धि प्राप्त कर अनेकों ने अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न किया है । उन प्रयासों के सफल होने पर भी आत्म संतोष नहीं मिलता दिखाई दिया । कोई सोचते हैं कि विद्वत्ता, पांडित्य और ज्ञान संपादन से जीवन सार्थक होता है, किंतु बड़े बड़े विद्वान, पंडित और ज्ञानी-विज्ञानी आत्महत्या करते देखे गए हैं । इस तरह की सभी सफलताएँ सार्थकता का भ्रम तो उत्पन्न करती हैं, पर जीवन को सार्थक नहीं बनाती । यदि इनसे जीवन की सार्थकता सिद्ध होती तो बड़े बड़े धनवानों, वैभव संपन्नों, ख्याति प्राप्त व्यक्तियों, बड़े बड़े नेताओं, पंडितों और विद्वानों को कभी भी हताश, निराश और दुखी नहीं देखा जा सकता था ।

फिर जीवन की सार्थकता किस बात में है ? थोड़ा-सा विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है । मनुष्य की अपनी जीवन चेतना विराट् समष्टि चेतना का एक अंग है । बूँद जिस प्रकार सागर से अलग होकर वापस सागर में ही मिलने के लिए छटपटाती है, कभी मेघमाला बनकर धरती पर बरसती है और सागर की ओर दौड़ने लगती है तो कभी जलाशयों में जा गिरती है । जलाशय में गिरने के

बाद फिर वह बादल बनकर उड़ती है या धरती की अतल गहराइयों में घुसकर अपने उसी विराट् रूप की ओर दौड़ लगाती है । उसी प्रकार मनुष्य की सीमाबद्ध व्यष्टिचेतना भी समष्टि चेतना के सागर से मिलने के लिए आतुर है जिसने भी इस आतुरता को समझा है, अपने संकीर्ण स्वार्थों को विराट् हितों में घुला देने की चेष्टा की है, उन्हें कभी भी निराश होते नहीं देखा गया है और न किसी ऐसे व्यक्ति का कोई विवरण ही मिलता है, जिसने यह दिशा ग्रहण करने के बाद आत्महनन किया हो । बूँद जिस प्रकार अपने मूलस्वरूप को प्राप्त कर स्वयं को सार्थक बनाती है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी अपने क्षुद्र अहं की परिधि को तोड़कर विराट चेतना से मिलकर स्वयं को सार्थक और धन्य बनाता है । फिर आत्महत्या करने का विचार आने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

निर्बलता भी उसी प्रकार एक अक्षम्य अपराध है जो भावोद्वेगों व अंततः रोगों को जन्म देती है । नीति शास्त्र में कहा गया है—वीर भोग्या वसुन्धरा, अर्थात् बलवान ही संसार के सुखों का उपभोग कर सकते हैं, निर्बल नहीं । इस तथ्य के प्रतिपादन से बल हीनों को हताशा और क्षोभ होना स्वाभाविक है, परंतु प्रकृति ने निर्बलता कोई रोग, विवशता या दयनीय स्थिति नहीं माना है । मनीषियों ने निर्बलता को एक पाप कहा है, जिसका दण्ड सभी क्षेत्रों में भुगतना पड़ता है । प्रकृति के कण कण से जब शक्ति अर्जित करने की प्रेरणा मिलती है और शक्ति संचय की सुविधाएँ सर्वत्र उपलब्ध हैं तो आलस्य और अकर्मण्यता में पड़कर निर्बल क्यों रहा जाए ? निर्बलता कोई स्थिति नहीं है, बल्कि वह आलस्य और अकर्मण्यता की ही परिणति है । यही कारण है कि निर्बलता चाहे किसी भी प्रकार की क्यों न हो, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक या आत्मिक, मनुष्य किसी भी दृष्टि से निर्बल हो तो उसे संबंधित क्षेत्र में प्रत्येक प्रयत्न का विपरीत परिणाम भुगतना पड़ता है ।

निर्बल व्यक्ति अपने प्राकृतिक और जन्म सिद्ध अधिकारों से भी समुचित लाभ नहीं उठा पाता । प्रकृति की व्यवस्था का उस पर

विपरीत प्रभाव ही पड़ता है और जो नियम या व्यवस्थाएँ बलवानों के लिए लाभ पहुँचा सकती हैं, वे व्यवस्थाएँ उसके लिए हानिकर सिद्ध होती हैं । उदाहरण के लिए स्वास्थ्य खराब हो तो सामान्य आहार भी नहीं पचता । स्वादिष्ट और पौष्टिक भोजन कमजोर व्यक्ति को अरुचि कर लगता है । ऐसे व्यक्ति के लिए गीत वाद्य, मनोरंजन, सुख, सुविधाएँ, धन दौलत सब कुछ व्यर्थ हैं । यहाँ तक कि वह चैन की नींद भी नहीं सो पाता । सर्वविदित है कि स्वास्थ्य खराब होने का कारण निर्बलता ही तो होती है । बलवान और पुष्ट शरीर में रोगाणु और स्वास्थ्य को नष्ट करने वाले विजातीय द्रव्य एक क्षण के लिए भी नहीं रहते । उनके प्रविष्ट करते ही मनुष्य की जीवनी शक्ति उसे नष्ट कर डालती है । निर्बल व्यक्ति के लिए ऐसा कहाँ संभव हो पाता है ?

यही बात बौद्धिक दृष्टि से निर्बल व्यक्तियों पर भी लागू होती है । संसार में जो भी श्रेष्ठ और सुंदर है उसका रस साहित्य में संचित है । मधुरता, प्रेम और सौन्दर्यानुभूति सब कुछ का बोध और अनुभव साहित्य के माध्यम से ही होता है । दुर्भाग्य से कोई व्यक्ति यदि बौद्धिक निर्बलता का शिकार हो तो उसके लिए संसार के अतुल ज्ञान और आनंद के भण्डार का कोई मूल्य ही नहीं है । अंधे व्यक्ति सुनकर और बहरे व्यक्ति पढ़कर साहित्य से लाभ उठा लेते हैं, किंतु मंद बुद्धि लोग तो समर्थ और स्वस्थ रहते हुए भी उस रस माधुरी से वंचित रह जाते हैं । इस प्रकार मानसिक निर्बलता के कारण व्यक्ति प्रकृति द्वारा ईश्वर द्वारा दिए गए उन अवसरों का कोई लाभ नहीं उठा पाते जो वस्तुतः उनके लाभ तथा आगे बढ़ने के लिए प्रकृति द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं । प्रतिकूल परिस्थितियों और कष्ट कठिनाइयों में मनोबल संपन्न व्यक्ति आगे बढ़ते हैं । इसके विपरीत मानसिक रूप से निर्बल व्यक्ति उन परिस्थितियों में निराश और किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं ।

आत्मिक दृष्टि से निर्बल व्यक्तियों के लिए आध्यात्मिक क्षेत्र में किसी प्रकार की प्रगति कर पाना कहाँ संभव रहता है ? उनके लिए

तो वह आनंद और वह शांति दुर्लभ ही नहीं असह्य और अप्राप्य भी है, जिसे आत्मबल संपन्न व्यक्ति प्राप्त कर जीवन को सफल बना लेते हैं ।

यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि प्रकृति की सभी शक्तियाँ मनुष्य के हित में ही काम करती है । आध्यात्मिक भाषा में इन्हीं शक्तियों को देवता कहा गया है । वेदों में सूर्य, चंद्र, वरुण, पवन, अग्नि, इन्द्र आदि अनेक देवताओं का उल्लेख है । सर्वविदित है कि ये देवता प्रकृति की ही विभिन्न शक्तियाँ है । जल, वायु, ऊष्मा, खुला आकाश जैसी शक्तियाँ कभी किसी को हानि नहीं पहुँचातीं, किंतु निर्बलों के लिए वे भी घातक बन जाती हैं । कहा भी गया है, ' 'देवोऽपि दुर्बलः घातकः'' देवता भी दुर्बल के लिए घातक हैं । लोग अपनी असावधानी, आलस्य या प्रमादवश जीवन की सर्वोपरि आवश्यकताओं की ओर कोई ध्यान नहीं दे पाते । उनकी अपनी कमजोरी ही पोषक शक्तियों का विपरीत प्रभाव ग्रहण करती है ।

'देवोऽपि दुर्बलः घातकः' वाली उक्ति इस तथ्य से भी प्रभावित होती है कि बलवानों के लिए सहायक सिद्ध होने वाले तत्व निर्बलों के लिए घातक बन जाते हैं । ऋतुओं का प्रभाव ही लें । सर्दियों में स्वस्थ व्यक्ति अपना आरोग्यवर्धन करते हैं, परंतु कमजोरों के लिए वही सर्दी, जुकाम, निमोनिया और गठिया जैसे रोगों का कारण बन जाती है । इस ऋतु में कमजोर लोग इन विकारों के शिकार हो जाते हैं तथा अपनी परेशानियों की शिकायत करने लगते हैं । स्वस्थ व्यक्ति इस ऋतु में प्रातःकाल की सुहानी धूप में प्रकृति से जीवनी शक्ति प्राप्त करता है जबकि कमजोर व्यक्ति को इन दिनों घर के भीतर बैठकर आग तापनी पड़ती है ।

स्वास्थ्य और शांति ही नहीं सम्मान और प्रतिष्ठा भी शक्तिशाली लोगों को ही मिलती है । कमजोर और क्षीणमना लोगों को हर कोई क्रूर दृष्टि से देखता है । शेर को उसके बल और स्फूर्ति के कारण ही जंगल का राजा कहा गया है । अन्य जंतु तो उससे डरते ही हैं-

मनुष्य भी सिंह का कम सम्मान नहीं करता । सामान्यतया सिंह को पराक्रम और शक्ति का प्रतीक समझा जाता है । उसे राज चिह्न के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है । इसके विपरीत निर्बल बकरी और खरगोश जंगली जानवरों से लेकर मनुष्य और देवता तक घबड़ा जाते हैं । उन्हें हर घड़ी अपने प्राण का भय बना रहता है । छोटे छोटे पेड़ पौधे तो वर्षा ऋतु में भी सूख जाते हैं । जबकि वसंत में बड़े वृक्ष लहलहाने लगते हैं, उनमें नई कोपलें फूटने लगती हैं ।

अशक्त और निर्बल का अस्तित्व हर स्थान और हर स्थिति में असुरक्षित ही रहता है । उनके विकास में कोई भी सहयोगी नहीं बनता, ईश्वर तक भी उनकी घात लगाए बैठा रहता है । मृत्यु ऐसे ही तत्वों पर तो अपना कालपाश प्रथम फेंकती है । उत्तम की रक्षा, प्रकृति के विकास का सिद्धांत है, उसका नियम है । इसीलिए उसकी व्यवस्था में निर्बल और अशक्त लोगों को कदम–कदम पर खतरे तथा हानियाँ उठानी पड़ती हैं ।

सफल, सुरक्षित और सुखी जीवन के लिए बल संवर्धन की आवश्यकता स्वीकार की जानी चाहिए । इसी तथ्य की ओर युवकों का ध्यान आकर्षित करते हुए स्वामी विवेकानंद ने एक स्थान पर लिखा है–'सर्वप्रथम आपको बलवान बनना पड़ेगा, शक्ति संवर्धन ही उन्नति का एकमात्र मार्ग है ।' इसी प्रकार परमात्मा और आत्मा के अधिक निकट पहुँचा जा सकता है । कोई भी उद्देश्य हो व्यक्तिगत या सार्वजनिक शक्ति और सामर्थ्य के द्वारा ही तो प्राप्त किया जा सकता है । किसी क्षेत्र में अनायास सफलता नहीं मिलती । उसके लिए तो निरंतर प्रयत्न करते हुए अपनी शक्तियों को विकसित करना होता है ।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि वस्तुएँ और उपलब्धियाँ स्वयं सिद्ध हैं, लेकिन यह भी सच है कि उनको प्राप्त करने के लिए पात्रता और सुरक्षित रखने के लिए शक्ति का विकास आवश्यक है । इस पात्रता का विकास अनवरत् श्रम साधना द्वारा ही किया जा सकता है । संसार में ज्ञान का अभाव नहीं है, अभाव है उस बौद्धिक सामर्थ्य का

जिसके कारण हम उसे प्राप्त करने में अक्षम हैं । शिक्षा साधना द्वारा उस क्षमता का विकास करना होता है । किसी भी क्षेत्र में सफलताके लिए पात्रता और शक्ति के विकास का यही नियम लागू होता है । इसीलिए निर्बलता को एक अपराध, एक पाप कहा गया है, जो पथभ्रष्ट करता और विपत्तियों के गर्त में धकेल देता है । प्रकृति के विधान में निर्बलता को कठोर दण्ड लिखा गया है । यदि उसे दूर नहीं किया गया तो कोपभाजन बनना ही पड़ेगा । जो सबाल है वही जीवन संग्राम में सदा सफल होता है । ऐसा व्यक्ति कभी बूढ़ा नहीं होता, चिरयुवा बना रहता है ।

शरीर भले ही बूढ़ा हो, मन युवा बना रहे

यौवन का संबंध तन की अपेक्षा मन से अधिक है । यौवन का अर्थ है ऐसी युवा मनःस्थिति जिससे सदा उत्साह, उमंग उमड़ता हो । प्रफुल्लित, प्रमुदित, प्रसन्नचित्त मनःस्थिति युवावस्था का परिचायक है । जहाँ भी यह विशेषता होगी, जीवन तत्परता एवं सक्रियता से ओत-प्रोत होगा तथा सफलताओं का मार्ग प्रशस्त होगा । यों तो यौवन का आरंभ किशोर वय से माना जाता है जो पच्चीस और तीस तक अपनी परिपक्व अवस्था में पहुँचता है, जिसे जीवन पर्यंत अक्षुण्ण बनाए रखा जा सकता है । पर कितने ही व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो युवावस्था में भी चिंता, आवेश तथा निराशा की मनःस्थिति से ग्रस्त होते हैं । आलसी और प्रमादियों को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है । जो युवक होते हुए भी वृद्धों जैसा जीवन जीते हैं तथा किसी प्रकार जीवन के दिन काटते हैं । सचमुच ही जो जीवन से निराश हो चुके हैं- जिनके मन में कुछ विशेष करने अथवा कुछ विशेष बनने की प्रेरणा नहीं उठती, वे वृद्ध कहे जा सकते हैं । इसके विपरीत उन व्यक्तियों के भी अनेकों उदाहरण खोजने पर मिल सकते हैं जो आयु के

हिसाब से तो वृद्धों की श्रेणी में जा पहुँचे हैं, पर मनःस्थिति की दृष्टि से युवकों जैसे लगते हैं । यौवन उनके भीतर से सदा अँगड़ाई लेता रहता है । उनकी सक्रियता एवं तत्परता देखते बनती है ।

कहा जा चुका है कि मनुष्य शरीर से नहीं मन से युवा होता है । तन में तो मात्र वह एक विशेष अवधि में अभिव्यक्त होता है, पर प्रवृत्तियों में वह सदा उमँगता दिखाई पड़ सकता है । यह मान्यता निराधार है कि वृद्धावस्था में तन की रचनात्मक तथा क्रियात्मक उमंगें थम जाती हैं तथा मनुष्य कुछ विशेष कर पाने में असमर्थ होता है । यह बात उसके लिए सही हो सकती है जो युवावस्था में भी बैठे–ठाले दिन गुजारते रहे अथवा आलस्य प्रमाद के चंगुल में जकड़े रहे, फलस्वरूप वृद्धावस्था भी उनके लिए अभिशाप बन गई अन्यथा संसार में कितने ही व्यक्ति हुए हैं जो चिरयुवा बने रहे । युवावस्था की अपेक्षा जीवन के उत्तरार्ध पक्ष में उन्होंने कहीं अधिक महत्वपूर्ण कार्य किए । संचित अनुभव परिपक्वता तथा संतुलित एवं उत्साही मनः स्थिति के सहारे उत्तरार्द्ध वय में कहीं अधिक महत्वपूर्ण कार्य कर सकना संभव है ।

इतिहास में अनेकों व्यक्तियों के उदाहरण मौजूद हैं जिन्हें जीवन के उत्तरार्द्ध में सर्वाधिक व्यस्त देखा गया तथा जिस आयु को वृद्धावस्था मान कर अधिकांश व्यक्ति असमर्थों जैसी जिन्दगी बिताते हैं, उसमें उन्हें महत्वपूर्ण भूमिका संपादित करते पाया गया । प्रख्यात अंग्रेजी कवि लाँगफैलो ने अपनी पुस्तक ''मारी च्यूरी सैल्यूटेमस'' में लिखा है कि मुझे यह देखकर अत्यंत आश्चर्य हुआ कि अस्सी वर्ष की अवस्था में कैरो ने यूनानी भाषा सीखी तथा अनेकों यूनानी दुर्लभ ग्रंथों का अनुवाद अंग्रेजी में किया । अस्सी ही वर्ष की आयु में सोफोक्लीज ने अपना महान ग्रंथ ओउपल पूरा किया जिस पर उसे अनेकों पुरस्कार प्राप्त हुए । थियोफ्रास्ट जब ९० वर्ष का हुआ तब उसने करैक्टर आफ दी मैन लिखना शुरू किया । इस ग्रंथ को एक महान साहित्य कृति माना जाता है । गेटे अस्सी वर्ष की आयु में बीमार पड़ा

तो भी उसने अपना समय बर्बाद नहीं किया । प्रख्यात ग्रंथ फौस्ट उसने रुग्णावस्था में पूरा किया ।

सतहत्तर वर्ष की आयु में वनस्पति शास्त्री लिनेयस को उनके महत्वपूर्ण शोध कार्यों के लिए पुरस्कृत किया गया । हेमवल्ट नब्बे वर्ष की आयु में युवकों की भाँति विज्ञान का अध्ययन करते रहे । उन्हें इसी आयु में वैज्ञानिक आविष्कारों के लिए ख्याति मिली । महान साहित्यकार तथा कलाकार माइकेल इंजिलों की कृतियों में से यदि ८३ वर्ष की उम्र में लिखे गए 'सानेटी' को निकाल दें, तो कुछ विशेष नहीं बचता । ग्लेडस्टन ८३ वर्ष की आयु में भी ब्रिटेन के प्रधानमंत्री पद पर काम करते रहे तथा पूरी निष्ठा के साथ राजनीतिक दायित्वों का निर्वाह करते रहे । चर्चिल का नाम भी उनके राजनीतिक कार्यों के लिए चिरकाल तक याद किया जाता रहेगा । वह इतिहास प्रसिद्ध घटना उल्लेखनीय है, कि द्वितीय विश्वयुद्ध में हिटलर आंधी तूफान की भांति बढ़ता चला जा रहा था । उसका अगला शिकार था इंग्लैंड । तत्कालीन प्रधानमंत्री एटली इतने भयभीत हो उठे कि उन्होंने सुरक्षा दायित्व सँभालने में असमर्थता व्यक्त की । तब चर्चिल की आयु अस्सी वर्ष थी । इंग्लैड के किंग, चर्चिल के युवा मनोबल से परिचित थे । उन्होंने चर्चिल को तुरंत राजनीतिक नेतृत्व संभालने के लिए आमंत्रित किया । कहते हैं कि रूजवेल्ट, स्टाालिन तथा चर्चिल की सम्मिलित सूझबूझ से हिटलर को मुँह की खानी पड़ी ।

गाँधी जी को सबसे अधिक व्यस्त ७५ और अस्सी के बीच देखा गया । इस आयु में उनकी स्फूर्ति युवकों जैसी थी । भारत रत्न विश्वेश्वरैया १०१ वर्ष तक जीवित रहे, पर उन्हें कभी बेकार समय गँवाते नहीं देखा गया । एक बार किसी ने उनसे पूछा कि आपके स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन का क्या रहस्य है ? उत्तर में उन्होंने कहा–हर समय व्यस्त रहना और मन को निराशावादी विचारों से बचाए रखना । हिस्ट्री आफ हिन्दू कैमिस्ट्री के प्रणेता और प्रख्यात रसायन विद् आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय से एक व्यक्ति ने प्रश्न किया कि

आपके जीवन के सबसे अधिक व्यस्त दिन कौन से रहे हैं । उन्होंने उत्तर दिया–''साठ वर्ष की आयु पार कर लेने के बाद मैं सबसे व्यस्त रहा । ''

यहूदी मानव सेब्रक सट मोजेज मॉंठी फायर अपनी मृत्यु तक जन सेवा का कार्य करते रहे । जन जागृति के लिए उन्होंने अनेकों पूर्वीय देशों का दौरा किया । काम करते हुए १०१ वर्ष की उम्र में मरे । सालवेशन आर्मी से संबद्ध पादरी जनरल विलियम बूथ ने अस्सी वर्ष की उम्र के बाद विश्वयात्रा शुरू की । ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया ८२ वर्ष की आयु में गुरुतर पद का भार कुशलतापूर्वक सँभालती रहीं । आणविक खोजों के लिए प्रसिद्ध भौतिक विद् सोमरविले को ख्याति ८९ वर्ष की अवस्था में मिली ।

८३ वर्ष की आयु में विक्टर ह्यूगो की मस्तिष्कीय प्रखरता को देख कर लोग आश्चर्यचकित रह जाते थे । इसका रहस्योद्घाटन करते हुए वे स्वयं कहते थे कि मस्तिष्क को मैंने जितना अधिक व्यस्त रखा उतना ही उसकी रचनात्मक शक्ति बढ़ती गई ।'' टेनियम ने ८० वर्ष की उम्र में 'क्रासिगद बार' नामक अनुपम ग्रंथ की रचना की । टालस्टाय की अधिकांश महत्वपूर्ण कृतियाँ अस्सी वर्ष की उम्र के बाद लिखी गईं । प्रसिद्ध वैज्ञानिक निकर्यामस एल्वा एडिसन की ८०वीं वर्षगाँठ पर उनके एक मित्र ने सलाह दी–'अब तो आपको काम की रफ्तार कम कर देनी चाहिए तथा विश्राम करना चाहिए । उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया कि 'अभी मैं इतना बूढ़ा नहीं हुआ हूँ और नहीं अभी होना चाहता हूँ ।'

फिर कारण क्या है कि अधिकांश व्यक्ति वृद्धावस्था को भारभूत समझते तथा असमर्थों जैसा जीवन बिताते हैं ? मनःशास्त्री मार्केटियर कालिन्स का कहना है कि आदमी यदि अनुभव करे कि वह वृद्ध हो चुका है तभी वृद्ध होता है और इसके साथ ही उसकी सृजन शक्ति घटने लगती है । मन से वह यह भावना निकाल दे कि वृद्धावस्था आ गई तथा उत्साह एवं उमंग से मन को अनुप्राणित रखे तो कभी तन

में वार्धक्य के चिह्न उसे निराश नहीं कर सकेंगे । कालिन्स का मत है कि मनुष्य में जितनी रचनात्मक शक्ति ३० वर्ष की आयु में होती है उतनी ही ८० वर्ष में भी रह सकती है बशर्ते कि वह सतत अभ्यास में उसे बनाए रखे । यह सही है कि उम्र के साथ साथ स्मरण शक्ति कमजोर पड़ जाती है, पर सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ तो अप्रभावित रहती तथा हर आयु में एक जैसी रहती हैं ।

सिसरो ने तो कालिन्स की इस बात का भी खण्डन किया है कि वृद्धावस्था में स्मरण शक्ति कमजोर पड़ जाती है । अपने तथ्य के समर्थन में उसने तर्क प्रस्तुत किया है कि जिन बातों को अनुभव के आधार पर वृद्ध महत्वपूर्ण समझता है उन्हें कभी नहीं भूलता है । भूलती वे ही बातें हैं जो अनुपयोगी तथा कम महत्व की होती हैं । सेमुअल जान्सन ने भी अपने लंबे अनुभव के बाद सिसरो की ही बात का समर्थन किया है । मनःशास्त्री डाक्टर लाजे का कहना है कि मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ मृत्यु पर्यन्त एक सी बनी रहती हैं तथा किसी भी दशा में पहले की अपेक्षा क्षीण नहीं होतीं ।''

विश्वविख्यात चित्रकार तथा मनोविज्ञानी लियो नार्दो ने लिखा है कि लोहा उपयोग में न लाने से जंग खा जाता है । गति एवं प्रवाह रहित जल अपनी शुद्धता गँवा देता है, उसमें सड़न पैदा हो जाती है । अकर्मण्यता के कारण ही मानसिक शक्तियाँ कमजोर पड़ जाती हैं । इस रोग से बचा जा सके तो मनुष्य सदा अपनी मानसिक प्रखरता स्थिर बनाए रख सकता है ।''

शिकागो विश्वविद्यालय में शरीर विज्ञान के प्रोफेसर डा० कार्लसन निष्क्रिय जीवन को बुढ़ापे का चिह्न मानते हैं तथा कहते हैं कि कोई भी निष्क्रियता अपना कर असमय बुढ़ापा बुला सकता है । बुढ़ापे को रोकने के लिए सौ दवाओं की एक दवा मानते हुए वे इस बात की सिफारिश करते हैं कि अपने को सदा व्यस्त रखा जाए तथा आलस्य प्रमाद से बचा जाए । वृद्धों के लिए कार्य के विषय में उनका कहना है कि जो भी कार्य किया जाए वह सुविधाजनक, रुचिकर तथा

शारीरिक दृष्टि से कष्टकारक न हो । स्वयं के संबंध में लिखते हैं कि मैंने इसी सूत्र को पकड़कर लंबी उम्र पाई है तथा सैकड़ों को प्रेरणा देकर बुढ़ापे के कष्ट से मुक्ति दिलाकर यौवन की उमंगें भरी हैं ।

प्रसिद्ध गणितज्ञ तथा दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल लिखते हैं कि यदि आपने छोटे–छोटे कार्यों में रस लेना तथा अपने को व्यस्त रखना सीख लिया तो कभी भी बूढ़े नहीं हो सकते । जहाँ तक व्यक्तिगत अनुभव है कि दो खतरे ऐसे अवश्य हैं जिनसे प्रत्येक व्यक्ति को बचना चाहिए । एक यह कि–अतीत की स्मृतियाँ बहुत अधिक एकत्र नहीं करनी चाहिए । बीते दिनों पर खेद व्यक्त करने अथवा हर्ष मनाने का कोई औचित्य नहीं है । अतीत से मात्र उपयोगी प्रेरणाएँ ली जाएँ इतना ही काफी है । उससे तभी बचा जा सकता है जब वर्तमान का सुनियोजन किया जाए । दूसरा खतरा उत्पन्न होता है–मन में वृद्धावस्था में निराशावादी विचारों के आधिपत्य जमा लेने से । इन दोनों से बचाव संभव हो सके तो तन से वृद्ध होते हुए भी मन से युवकों जैसी जिन्दगी गुजारी जा सकती है ।

डा० हुदेलैण्ड का कहना है कि आलसी व्यक्तियों पर वृद्धावस्था का जाल शीघ्रता से फैलता है । एक विचित्र तथ्य का रहस्योद्घाटन उन्होंने यह किया है कि निकम्मे व्यक्तियों को आज तक किसी ने स्वस्थ तथा दीर्घायु होते नहीं देखा है । पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्री हमेन वेबर ने अपनी तथ्य पूर्ण खोजों के उपरांत यह निष्कर्ष संसार के सामने रखा है कि संसार में जितने भी दीर्घ जीवी मनुष्य हुए हैं उनमें से शत प्रतिशत जीवन पर्यन्त परिश्रमी रहे । उस सत्य की पुष्टि में उन्होंने लाखों उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें कुछ विश्व विख्यात ये है–प्लेटो गेसेन केटो, सिरो, टिटियन माईकिल, एग्लो वेस्ली फ्रैंक्लिन, गेटी बाल्टेयर, फानमाल्टकी, विस्मार्क, ग्लेडस्टन, टालस्टाय आदि ।

तथ्य, तर्क एवं प्रमाण इस बात के साक्षी हैं कि यौवन का आयु से राई रत्ती भर संबंध नहीं है । मनःस्थिति को सदा संतुलित प्रसन्न

चित्त तथा उत्साह एवं उमंग से युक्त रखा जा सके तो हर व्यक्ति चिर यौवन का लाभ प्राप्त कर सकता है ।

पिछले दिनों चिकित्सा विज्ञान में उत्साहवर्धक प्रगति हुई है । मेडीकल कालेजों की तथा चिकित्सा स्नातकों की संख्या अत्यधिक बढ़ी है । नई औषधियों के आविष्कार भी हुए हैं और शरीर शास्त्र तथा आरोग्य शास्त्र के विभिन्न पक्षों पर शोध कार्य भी इतना हुआ है जिसे देखते हुए आरोग्य रक्षा के प्रति उत्पन्न हुई जागरूकता को सराहा जा सकता है ।

होना यह चाहिए था कि इतने प्रयासों के फलस्वरूप रोगों की, रोगियों की संख्या घटती और स्वास्थ्य संवर्धन के संतोषजनक चिह्न दिखाई पड़ते, किंतु ऐसा हो नहीं रहा है । उल्टे रोगों की, रोगियों की संख्या बेतरह बढ़ रही है । लगता है कि या तो चिकित्सा पद्धति असफल रही है अथवा रोग वृद्धि के कुछ ऐसे कारण हैं,जिनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया । फलतः चिकित्सा और रुग्णता की घुड़दौड़ में अस्वस्थता आगे निकल गई ।

स्वयं चिकित्सा पद्धति के बारे में लोगों को भारी शिकायतें हैं । वे रोगों को अच्छा करने का आश्वासन तो देती है, किंतु क्षणिक चमत्कार दिखा के, समय पर थोड़ी सी राहत देकर अपनी बाजीगरी का खेल समाप्त कर देती हैं । इलाज कराने वालों में से अधिकांश की हालत उससे भी बदतर हो जाती है जैसा कि चिकित्सा से पूर्व थी । कारण कि रोग समाप्त हो नहीं पाया और औषधियों के साथ जुड़ी हुई विषाक्तता ने शरीर में अड्डा जमाकर नया सिर दर्द खड़ा कर दिया । कहीं कोई बच्चा किसी दवाई के इंजेक्शन की प्रतिक्रिया से मर जाता है तो कभी किसी दवा के एलर्जी रिएक्शन की चर्चा बहुत से व्यक्तियों से सुनने को मिलती है । यदि चिकित्सा शास्त्र की अभिनव खोज देखें तो पता चलता है कि जीवाणुओं की नई नई एण्टी बायोटिक रेसीस्टेन्ट किस्में बनती जा रही हैं तथा शरीर क्रमशः विषाक्तता के प्रकोप से रोगी होता जा रहा है । उच्च रक्त चाप, हृदय

रोग, कैंसर जैसे असाध्य रोगों की जितनी रोकथाम हो रही है, उतने ही वे बढ़ते जा रहे हैं तथा उतनी ही कम उम्र के लोगों को ग्रस्त करते जा रहे हैं । कुछ वर्ष पहिले जो दिल का दौरा चौथी या पाँचवी दशाब्दी के लोगों को व्याधिग्रस्त करता था वह आज अक्सर तीसरी दशाब्दी में ही लोगों को आ घेरता है । इन सब व अन्य असफलताओं के कारण व निवारण समझना आज का ज्वलंत प्रश्न है ।

गलती वहाँ शुरू हुई जहाँ मनुष्य को एक शरीर माना गया । कहने सुनने के लिए यह भी मान लिया गया कि इस शरीर के साथ इच्छाएँ, विचारणाएँ व भावनाएँ भी जुड़ी रहती हैं । प्रधानतः तो यह रसायन से बना शरीर है तथा मन उसका सहायक व उसके लिए बना एक स्थूल स्वरूप मात्र है । इस आधार को लेकर हर रोग के कारण की स्थूल शरीर में खोज की गई, पर किसी का भी कारण नहीं मिला । हारकर जो स्थूल विकृति पाई गई उसका किसी न किसी प्रकार निराकरण करने की बात सोची गई । यदि गुर्दे में पथरी बन गई तो यह तो पता नहीं चला कि पथरी क्यों बन गई, पर फिलहाल उस पथरी को हटा दिया गया । बार बार पथरी बनती गई तथा एक स्थिति ऐसी आ गई जब उस गुर्दे को निकाल देने के अलावा और कोई चारा ही नहीं रह गया । यदि किसी कारण वश दोनों गुर्दे लाइलाज हो गए तो उनका कारण तो ठीक किया न जा सका, पर उनके परिणामस्वरूप होने वाली रक्त की विकृति को डाइलसिस के द्वारा ठीक करने का प्रयास किया गया । इस डाईलिसिस के परिणामस्वरूप होने वाले नुकसानदायक "साइड इफैक्ट्स" को ठीक करने के लिए अनेकानेक इलाज किए जाने लगे । यदि उचित समझा गया तो नया गुर्दा लगाने का भी प्रयास किया गया, उसमें होने वाले ग्राण्ड रिएक्शन की प्रक्रिया को रोकने के लिए इम्यूनी सप्रेशन किया गया जिसकी वजह से रोगी को हानि रहित जीवाणुओं से भी जान बचानी मुश्किल हो गई तथा म्यूना सप्रैशिव दवाओं के उपहार स्वरूप होने वाले "वोनमैरो डिप्रेशन" ने

रोगी को रक्त विहीन कर दिया । रक्त की कमी को पूरा करने के लिए बाहर से रक्त दिया गया । मनुष्य डाक्टरों व दवाओं का गुलाम बनकर नरक भोगकर दुनियाँ से कूँच कर गया ।

इस कहानी को विवेक पर परखें तो पता चलता है कि गल्ती दो प्रकार से हुई (१) रोग से होने वाली विकृति को ठीक करने का हर संभव सराहनीय प्रयत्न किया गया, पर विकृति आगे न हो यह नहीं रोका जा सका क्योंकि विकृति क्यों हो रही है, इस सारी कहानी का पता ही नहीं चला । (२) जो इलाज किया गया या दवा दी गई वह सब इतना अप्राकृतिक था कि शरीर ने उसे बाह्य पदार्थ विजातीय माना तथा जहाँ इस पदार्थ ने एक रोग को सही किया वहीं दूसरे एक नए रोग को जन्म दे दिया । इस प्रकार जहाँ मूलरूप से जो रोग था वह तो बढ़ता रहा । रोग के लिए दवा–दवा से रोग की एक शृंखला चलती रही । रोग जितना बढ़ता रहा उतना ही वह जटिल व सूक्ष्म होता गया तथा उसके लिए उतनी ही जटिल पद्धतियाँ इलाज के कार्य में लाई गईं तथा उन पद्धतियों के उतने ही अधिक जटिल दुष्परिणाम होते गए ।

वस्तुतः रोग की उत्पत्ति का कारण स्थूल शरीर में नहीं है । कारण प्रकृति के नियमों के उल्लंघन में हैं । इस उल्लंघन के फलस्वरूप शरीर में इतने मल इकट्ठे हो जाते हैं कि उनकी विषाक्तता शरीर को रोगी बना देती है । उदाहरणार्थ देखा जाए तो गुर्दे में होने वाली पथरी उन मलों का ही स्वरूप है जो अनावश्यक रूप से आहार रूप में ग्रहण किए गए थे तथा जिन्हें गुर्दे ने बाहर तो कर दिया, परंतु वे इतने घने थे कि वहीं जम गए । बेचारा गुर्दा इतना पानी व इलैक्ट्रोलाइट्स नहीं जुटा पाया कि वे घनीभूत पदार्थ बाहर फेंक दिए जाते ।

इस बात को यों भी कह सकते हैं कि गुर्दे में प्राण शक्ति का अभाव था । वह पूरी तरह से संचित मलों को नहीं निकाल पाया ।

यदि गुर्दे पूरी तरह से सभी मलों को निकाल देता तो पथरी नहीं बनतीं ।

दोनों ही पक्ष अपने अपने स्थान पर सही हैं । मल वस्तुतः गुर्दे को इतने अधिक मिले जितने कि निकालने की प्रकृति ने उससे अपेक्षा नहीं की थी तथा पहिले से अप्राकृतिक रूप से अधिक मल निकालते–निकालते गुर्दे की प्राणशक्ति कम भी हो चुकी थी । दोनों ही पक्षों ने मिल कर रोग को जन्म दिया । आधुनिक मतानुसार पथरी जम गई है उसे शल्य क्रिया से निकाल देना ही उचित है, पर साथ ही साथ यदि प्राण का संवर्धन कर दिया जाए व आहार विहार को अधिकाधिक प्राकृतिक बनाया जाए तो आगे रोग की रोकथाम हो सकती है तथा रोग की शृंखला टूट सकती है जो कि शल्यक्रिया से संभव नहीं हो पाती ।

रोग निवारण एवं आरोग्य संवर्धन की आवश्यकता अनुभव करने वालों समझना चाहिए कि शरीर में जीवनशक्ति का संवर्धन करने से ही बात बनेगी । रोगों की उत्पत्ति–विषाणुओं का आक्रमण उतना भयानक नहीं जितना कि आहार विहार का असंयम, प्रकृति की मर्यादाओं के प्रतिकूल आचरण । मानवी काया जीवनी शक्ति का भण्डार है । उसमें और कुछ अतिरिक्त रूप में भरने की आवश्यकता नहीं । आत्मसंयम, अनुशासन और सदाशयता का आश्रय लेकर जीवनी शक्ति की बर्बादी रोकी जा सकती है । इस रोकथाम से ही वह क्षमता उपलब्ध होगी जो रुग्णता से चिरस्थायी मुक्ति दिला सके ।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा